वर्ष ४३ अंक ८ अगस्त २००५ मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

JUST RELEASED

VOLUME III
of
Sri Sri Ramakrishna
Kathamrita

in English

A verbatim translation of the third volume of original Bengali edition. Available as hardbound copy at *Rs. 150.00 each* (plus postage Rs. 30.00). Available online at: *www.kathamrita.org*

HINDI SECTION

- Sri Sri Ramakrishna Kathamrita Vol. I to V Rs. 300 per set (plus postage Rs. 50)

  M. (Mahendra Nath Gupta), a son of the Lord and disciple, elaborated his diaries in five parts of 'Sri Sri Ramakrishna Kathamrita' in Bengali that were first published by Kathamrita Bhawan, Calcutta in the years 1902, 1905, 1908, 1910 and 1932 respectively. This series is a verbatim translation in Hindi of the same.

- Sri Ma Darshan Vol. I to XVI Rs. 825 per set (plus postage Rs. 115)

  In this series of sixteen volumes Swami Nityatmananda brings the reader in close touch with the life and teachings of the Ramakrishna family: Thakur, the Holy Mother, Swami Vivekananda, M., Swami Shivananda, Swami Abhedananda and others. The series brings forth elucidation of the Upanishads, the Gita, the Bible, the Holy Quran and other scriptures, by M., in accordance with Sri Ramakrishna's line of thought. This work is a commentary on the Gospel of Sri Ramakrishna by Gospel's author himself.

ENGLISH SECTION

- Sri Sri Ramakrishna Kathamrita Vol. I to III Rs. 450.00 for all three volumes (plus postage Rs. 60)
- M., the Apostle & the Evangelist Vol. I to X (English version of Sri Ma Darshan) Rs. 900.00 per set (plus postage Rs. 100)
- Sri Sri RK Kathamrita Centenary Memorial Rs. 100.00 (plus postage Rs. 35)
- Life of M. and Sri Sri Ramakrishna Kathamrita Rs. 150.00 (plus postage Rs. 35)
- A Short Life of M. Rs. 50.00 (plus postage Rs. 20)

BENGALI SECTION

- Sri Ma Darshan Vol. I to XVI Rs. 650 per set (plus postage Rs. 115)

All enquiries and payments should be made to:

SRI MA TRUST
579, Sector 18-B, Chandigarh – 160 018 India
Phone: 91-172-272 44 60
email: SriMaTrust@yahoo.com

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अगस्त २००५

प्रबन्ध-सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४३
अंक ८

वार्षिक ५०/-   एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि का बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से ही बनवायें}

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें —

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। ऐसी हो कि पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी सलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि किसी पिछले अंक से बनना हो, तो सूचित करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें — 'नया सदस्य'।

(३) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें न भेजें।

(६) सदस्यता-शुल्क की राशि का बैंक-ड्राफ्ट — **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से ही बनवायें।

(७) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वैराग्य-शतकम्

भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचञ्चला
आयुर्वायुविघट्टिताब्जपटलीलीनाम्बुवद्भङ्गुरम् ।
लोला यौवनलालसास्तनुभृतामित्याकलय्य द्रुतं
योगे धैर्यसमाधिसिद्धसुलभे बुद्धिं विधद्ध्वं बुधाः ।।३५।।

अन्वय – भोगाः मेघ-वितान-मध्य-विलसत्-सौदामिनी-चञ्चला, आयुः वायु-विघट्टित-अब्ज-पटली-लीन-अम्बुवद्-भङ्गुरम् । तनुभृताम् यौवन-लालसाः लोला, इति आकलय्य बुधाः द्रुतं धैर्य-समाधि-सिद्ध-सुलभे योगे बुद्धिं विधद्ध्वम् ।।

भावार्थ – देहधारियों के लिए विषय-भोग मेघमाला के बीच चमकती हुई तड़ित् के समान चंचल है । मनुष्य की आयु हवा के झोकों के बीच कमल के पत्ते पर पड़ी हुई जल की बूँद के समान क्षणभंगुर है । देहधारियों द्वारा यौवन का सुख भोगने की लालसा (की पूर्ति) भी अनिश्चित है । (अत:) बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह इस पर विचार करके यथाशीघ्र धैर्य तथा एकाग्रता द्वारा सहजलभ्य योग में अपनी बुद्धि को नियोजित करे ।

आयुः कल्लोललोलं कतिपयदिवसस्थायिनी यौवनश्री-
रर्थाः संकल्पकल्पा घनसमयतडिद्विभ्रमा भोगपूगाः ।
कण्ठाश्लेषोपगूढं तदपि च न चिरं यत्प्रियाभिः प्रणीतं
ब्रह्मण्यासक्तचित्ता भवत भवभयाम्भोधिपारं तरीतुम् ।।३६।।

अन्वय – आयुः कल्लोल-लोलं, यौवन-श्रीः कतिपय-दिवस-स्थायिनी, अर्थाः संकल्प-कल्पाः, भोग-पूगाः घन-समय-तडित्-विभ्रमाः । प्रियाभिः यत् कण्ठ-आश्लेष-उपगूढं प्रणीतम् तत्-अपि च चिरं न, भव-भय-अम्भोधि-पारं तरीतुं ब्रह्मणि आसक्त-चित्ताः भवत ।।

भावार्थ – जीवन जल की तरंगों के समान चंचल है, यौवन की शोभा कुछ दिनों तक ही टिकनेवाली है, धन-धान्यादि सम्पत्तियाँ मन में उठनेवाले संकल्प-विकल्पों के समान ही क्षणभंगुर हैं, भोग्य विषयों का प्रवाह वर्षाकाल में कभी-कभी चमकनेवाली विद्युन्माला के समान है । अपने प्रियजनों का आलिंगन भी चिर काल तक नहीं रहता । अत: इस भयानक संसार-सागर को पार करने के लिए एकमात्र ब्रह्म में ही अपने चित्त को लगाओ ।

– भर्तृहरि

गुरु-वन्दना

– १ –

(आसावरी या पटदीप–एकताल)

गुरुदेव ज्ञान देकर, मम नेत्र खोल दीजै ।
चित को पुनीत करके, निज इष्ट-बोध दीजै ।।

अज्ञान-घन-तमस में, कबसे भटक रहा हूँ,
मैं था चला जहाँ से, अब भी वहीं पड़ा हूँ,
सन्मार्ग को दिखाकर, उद्धार मेरा कीजै ।।

मझधार में पड़ी है, नैया प्रभो हमारी,
बहते प्रवाह में हम, आशा मिटी है सारी,
अब आप ही प्रगट हो, पतवार थाम लीजै ।।

सर्वस्व आप मेरे, हे भाग्य के विधाता,
सब छोड़कर है जोड़ा, बस आप से ही नाता,
अब तो 'विदेह' पर निज, करुणा-कटाक्ष कीजै ।।

– २ –

(दरबारी-कान्हरा–कहरवा)

रे मन, गुरु बिनु होत न ज्ञान ।
उनका स्मरण-मनन-पूजन कर, नररूपी भगवान ।।

बँधा हुआ तू जग में आया,
विषय-भोग की अद्‌भुत माया,
शासन करते हैं तेरे पर, लोभ-मोह-अभिमान ।।

चित में फैला है अँधियारा,
भटक रहा है तू बेचारा,
उनकी कृपादृष्टि होवे तो, छूटे भ्रम-अज्ञान ।।

गुरु ही ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर,
वे ही परम-ब्रह्म-परमेश्वर,
कर 'विदेह' प्रतिपल उनके ही,
पद कमलों का ध्यान ।।

– *विदेह*

धर्मशिक्षा की आवश्यकता (२)

स्वामी विवेकानन्द

(शिक्षा विषय पर अनेक मूल्यवान विचार स्वामीजी के सम्पूर्ण साहित्य में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उन्हीं का बँगला भाषा में एक संकलन 'शिक्षा-प्रसंग' नाम से प्रकाशित हुआ है, जो कई दृष्टियों से बड़ा उपयोगी प्रतीत होता है। शिक्षकों तथा छात्रों – दोनों को ही उससे उक्त विषय में काफी नयी जानकारी मिल सकती है, यहाँ पर हम 'शिक्षा का आदर्श' शीर्षक के साथ क्रमश: उसी का प्रकाशन कर रहे हैं। – सं.)

त्याग और सेवा ही राष्ट्रीय आदर्श हैं

विभिन्न मत-मतान्तरों के भिन्न-भिन्न सुरों से भारत-गगन गूँज रहा है। यह सच है कि इन सुरों में कुछ ताल में हैं और कुछ बेताल; परन्तु यह स्पष्ट समझ में आ रहा है कि इन सबमें एक सुर मानो भैरव-राग के सप्तम स्वर में उठकर बाकी सुरों को कर्णगोचर नहीं होने दे रहा है और वह प्रधान सुर है – त्याग।[१७४] बुद्ध ने 'त्याग' का प्रचार किया था, भारत ने सुना और फिर भी छह शताब्दियों में वह अपने उच्चतम शिखर पर पहुँच गया। भेद यहाँ है। भारत के राष्ट्रीय आदर्श हैं – त्याग और सेवा। आप उसकी इन धाराओं में तीव्रता उत्पन्न कीजिए, और बाकी सब अपने आप ठीक हो जायेगा।[१७५]

महापुरुषों की पूजा

लोगों के समक्ष यथार्थ तत्त्व रख देने होंगे, तभी तुम्हारे धर्म और देश का भला होगा। ... पहले तो महापुरुषों की पूजा चलानी होगी। जो लोग उन सनातन तत्त्वों की अनुभूति कर गये हैं, उन्हें लोगों के सामने आदर्श या इष्ट के रूप में खड़ा करना होगा, जैसे भारत में श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्ण, महावीर हनुमान और श्रीरामकृष्ण। देश में श्रीरामचन्द्र और महावीर की पूजा चला दो। वृन्दावन -लीला आदि अभी रहने दो। गीता का सिंहनाद करने वाले श्रीकृष्ण की पूजा चलाओ, शक्ति की पूजा चलाओ! ... इस समय चाहिए महान् त्याग, महान् निष्ठा, महान् धैर्य और स्वार्थ-गन्ध-रहित बुद्धि की सहायता से महान् उद्यम के साथ सभी बातें ठीक जानने के लिए कमर कसकर लग जाना।[१७६]

आदर्श – महावीर हनुमान

महावीर के चरित्र को ही तुम्हें इस समय आदर्श मानना पड़ेगा। देखो न, वे राम की आज्ञा से समुद्र लाँघकर चले गये! जीवन की उन्हें परवाह कहाँ? महा-जितेन्द्रिय, महा-बुद्धिमान, दास्य भाव के उन महान् आदर्श से तुम्हें अपना जीवन गठित करना होगा। वैसा होने पर बाकी भावों का विकास स्वयं ही हो जायेगा। दुविधा छोड़कर गुरु की आज्ञा का पालन और ब्रह्मचर्य की रक्षा – यही है सफलता का रहस्य! **नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय** – अवलम्बन करने योग्य अन्य कोई पथ नहीं। हनुमानजी के समान एक ओर सेवा-भाव और दूसरी ओर त्रैलोक्य को भीत कर देनेवाला सिंह जैसा विक्रम! राम के हित के लिए उन्होंने जीवन तक विसर्जन कर देने में कभी जरा भी संकोच नहीं किया। राम की सेवा के सिवा अन्य सभी विषयों के प्रति उपेक्षा, यहाँ तक कि ब्रह्मत्व, शिवत्व प्राप्ति के प्रति उपेक्षा! केवल रघुनाथ के उपदेश का पालन ही जीवन का एकमात्र व्रत – वैसे ही एकनिष्ठ होना चाहिए।[१७७] मन में कभी दुर्बलता न आने देना। महावीर का स्मरण किया करो, महामाया का स्मरण किया करो; देखोगे, सब दुर्बलता, सारी कापुरुषता तत्काल चली जायेगी।[१७८]

इस समय वृन्दावन के वंशीधारी कृष्ण का ध्यान करने से काम नहीं बनेगा, जीवन का उद्धार नहीं होगा।[१७९] खोल-मृदंग-करताल बजाकर उछल-कूद मचाते हुए पूरा देश रसातल में जा रहा है। ... कामगन्ध-हीन उच्च साधना का अनुकरण करने जाकर देश घोर तमोगुण से भर गया है। ... दुन्दुभी-नगाड़े क्या देश में तैयार नहीं होते? तुरही-भेरी क्या भारत में नहीं मिलती? वही सब गुरु-गम्भीर ध्वनि लड़कों को सुना। बचपन से जनाने बाजे सुन-सुनकर, कीर्तन सुन-सुनकर, देश स्त्रियों का देश बन गया है।[१८०] अब जरूरत है गीता के सिंहनादकारी श्रीकृष्ण की, धनुर्धारी श्रीराम की, महावीर हनुमान की, माँ काली की पूजा की।[१८१] डमरू-सिंगा बजाना होगा, नगाड़े में ब्रह्मरुद्र ताल का दुन्दुभि-नाद उठाना होगा, 'महावीर', 'महावीर' की ध्वनि तथा 'हर-हर बम-बम' शब्द से दिग्दिगन्त कँपा देना होगा। जिन गीत-वाद्यों से मनुष्य के हृदय के कोमल भावों की उद्दीपना होती हैं, उन्हें थोड़े दिनों के लिए बन्द रखना होगा। खयाल-टप्पा बन्द करके लोगों से ध्रुपद-गायन का अभ्यास कराना होगा।[१८२] तभी लोग महा उद्यम के साथ कर्म में लगेंगे और शक्तिशाली बनेंगे। मैंने भलीभाँति विचार करके देखा है कि वर्तमान में जो लोग धर्म की रट लगा रहे हैं, उनमें से बहुत-से लोग पाशवी दुर्बलता से परिपूर्ण हैं, विकृत-मस्तिष्क या उन्माद-ग्रस्त हैं। बिना रजोगुण के तेरा अब न इहलोक है और न परलोक। घोर तमोगुण से देश भर गया है। इसका फल भी वैसा हो रहा है – इहलोक में दासत्व और परलोक में नरक। ... इतिहास बताता है कि हमारे पूर्वजों ने अनेक देशों पर

विजय प्राप्त की और वहाँ उपनिवेश भी स्थापित किये। तिब्बत, चीन, सुमात्रा, जापान तक धर्म-प्रचारक भेजे। बिना रजोगुण का आश्रय लिये उन्नति का कोई भी उपाय नहीं।[१८३] वैदिक छन्दों की आवृत्ति से देश में प्राण-संचार कर देना होगा। सभी विषयों में वीरता की कठोर महाप्राणता लानी होगी। ऐसे आदर्श का अनुसरण करने पर ही इस युग में लोगों का और देश का कल्याण होगा।[१८४]

जीवन्त उदाहरण

यदि तुम अकेले ही इस भाव के अनुसार अपना जीवन तैयार कर सके, तो तुम्हें देख हजारों लोग वैसा करना सीख जायेंगे। पर देखना, आदर्श से कभी एक पग भी न हटना! कभी साहस न छोड़ना! खाते, सोते, पहनते, गाते, बजाते, भोग में, रोग में – सदैव तीव्र उत्साह और साहस का ही परिचय देना होगा। तभी तो महाशक्ति की कृपा होगी?[१८५]

कोरे भाषण से यहाँ कुछ नहीं होगा। बाबू लोग सुनेंगे, अच्छा-अच्छा कहेंगे, तालियाँ बजायेंगे; फिर घर जाकर भात के साथ सब हजम कर जायेंगे। पुराने जंग-खाये लोहे पर हथौड़ी चलाने से क्या होगा? वह टूटकर चूर हो जायेगा। पहले उसे जलाकर लाल करके तब हथौड़ी की चोट करने पर उसे कुछ आकार दिया जा सकेगा। इस देश में ज्वलन्त उदाहरण दिखाये बिना कुछ नहीं होगा। कुछ बच्चे चाहिये, जो सब कुछ त्यागकर देश के लिए जीवन अर्पित कर देंगे। पहले उनका जीवन तैयार कर देना होगा, तभी काम होगा।

ब्रह्मचर्यवान् बनो

मेरुदण्ड के दोनों ओर से इड़ा और पिंगला नामक दो शक्तियाँ प्रवाहित होती हैं और मेरु-मज्जा के बीच से होकर सुषुम्ना गुजरती है। यह इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना हर प्राणी में विद्यमान है। मेरुदण्ड-वाले सभी प्राणियों के भीतर ये तीन प्रकार की भिन्न-भिन्न क्रिया-प्रणालियाँ मौजूद हैं। योगी कहते हैं कि साधारण जीवों में यह सुषुम्ना बन्द रहती है, उसके भीतर किसी तरह की क्रिया का अनुभव नहीं होता; पर इड़ा और पिंगला नाड़ियों का कार्य अर्थात् शरीर के विभिन्न भागों में शक्ति-वहन करना, सभी प्राणियों में होता रहता है। ... योगियों के मत में उपरोक्त शक्ति-वहन केन्द्र सुषुम्ना में ही स्थित हैं। रूपक की भाषा में उन्हीं को पद्म कहते हैं। सबसे नीचेवाला पद्म सुषुम्ना के सबसे निचले भाग में अवस्थित है। इसका नाम है (१) मूलाधार; उसके ऊपर (२) स्वाधिष्ठान, (३) मणिपूर, (४) अनाहत, (५) विशुद्ध, (६) आज्ञा और (७) सहस्रार या सहस्रदल पद्म। ... सबसे नीचेवाला मूलाधार और सबसे ऊपरवाला सहस्रार है। सबसे नीचेवाला चक्र ही सर्व शक्ति का अधिष्ठान है और उस शक्ति को वहाँ से लेकर मस्तिष्कस्थ सर्वोच्च चक्र में ले जाना होगा। योगियों का दावा है कि मनुष्य-देह में जितनी भी शक्तियाँ हैं, उनमें ओज सबसे उत्कृष्ट है। यह ओज मस्तिष्क में संचित रहता है। जिसके मस्तक में जितना अधिक ओज रहता है, वह उतना ही बुद्धिमान और आध्यात्मिक बल-सम्पन्न होता है। कोई तो बड़ी सुन्दर भाषा में सुन्दर भाव व्यक्त करता है, परन्तु लोग आकृष्ट नहीं होते और दूसरा न सुन्दर भाषा बोल सकता है, न ठीक से भाव व्यक्त कर सकता है, तथापि लोग उसकी बात पर मुग्ध हो जाते हैं। वह जो भी करता है, उसी में महा -शक्ति का विकास दीख पड़ता है। ऐसी है ओज की शक्ति!

यह ओज, अल्पाधिक मात्रा में हर मनुष्य में विद्यमान है। देह में जितनी शक्तियाँ हैं, यह ओज उनका सर्वोच्च विकास है। हमें सदा याद रखना होगा कि एक ही शक्ति अन्य शक्ति में परिणत हो जाती है। संसार में जो शक्ति विद्युत अथवा चुम्बकीय शक्ति के रूप में व्यक्त हो रही है, वही क्रमश: आन्तरिक शक्ति में परिणत होगी। आज जो शक्तियाँ पेशियों में कार्य कर रही हैं, वे ही कल ओज में परिणत हो जायेंगी। योगी कहते हैं कि मनुष्य में जो शक्ति काम-क्रिया, काम-चिन्तन आदि रूपों में व्यक्त हो रही है, उसका दमन करने पर वह सहज ही ओज में परिणत हो जाती है। और हमारे शरीर का सबसे नीचेवाला केन्द्र ही इस शक्ति का नियामक होने के कारण योगी इसकी ओर विशेष ध्यान देते हैं। वे सारी काम-शक्ति को ओज में परिणत करने की चेष्टा करते हैं। कामजयी स्त्री-पुरुष ही इस ओज को मस्तिष्क में संचित कर सकते हैं। इसलिए ब्रह्मचर्य ही सदैव सर्वश्रेष्ठ धर्म माना गया है। मनुष्य अनुभव करता है कि यदि वह कामुक हो, तो उसका सारा धर्मभाव चला जाता है, चरित्र-बल और मानसिक तेज नष्ट हो जाता है। अत: देखोगे कि संसार में जिन सम्प्रदायों में बड़े-बड़े धर्मवीर पैदा हुए हैं, उन सभी ने ब्रह्मचर्य पर विशेष जोर दिया है। इसीलिए विवाह-त्यागी संन्यासी-दल की उत्पत्ति हुई है। तन-मन-वचन से पूर्णरूपेण इस ब्रह्मचर्य का पालन करना नितान्त आवश्यक है।[१८६]

ब्रह्मचर्यवान् मनुष्य के मस्तिष्क में प्रबल शक्ति – महती इच्छा-शक्ति संचित रहती है। पवित्रता के बिना आध्यात्मिक शक्ति सम्भव नहीं। मानव-समाज के सभी धर्माचार्य ब्रह्मचारी थे – उन्हें सारी शक्ति इस ब्रह्मचर्य से ही प्राप्त हुई थी। अत: योगी का ब्रह्मचारी होना अनिवार्य है।[१८७] ❖ **(क्रमश:)** ❖

सन्दर्भ-सूची –

१७४. विवेकानन्द साहित्य, (संस्करण १९८९) खण्ड ५, पृ. ४५; **१७५**. वही, खण्ड ४, पृ. २६५; **१७६**. वही, खण्ड ६, पृ. १३७-३८; **१७७**. वही, खण्ड ६, पृ. १९६; **१७८**. वही, खण्ड ६, पृ. १९७ **१७९**. वही, खण्ड ६, पृ. १७; **१८०**. वही, खण्ड ६, पृ. १९७-९८; **१८१**. वही, खण्ड ६, पृ. १७; **१८२**. वही, खण्ड ६, पृ. १९७ **१८३**. वही, खण्ड ६, पृ. १७-१८; **१८४**. वही, खण्ड ६, पृ. १९७; **१८५**. वही, खण्ड ६, पृ. १९७; **१८६**. वही, खण्ड १, पृ. ८०-८२; **१८७**. वही, खण्ड १, पृ. १७९

श्रीराम-वाल्मीकि-संवाद (२/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा १९९६-९७ में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोहों के समय पण्डितजी ने उपरोक्त विषय पर जो प्रवचन दिये थे, यह उसी का अनुलेख है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

जनकजी ने कहा कि पृथ्वी वीरों से खाली हो गई है, संसार में कोई वीर नहीं है। यह श्रीराम का अनादर था, तो भी उन्होंने इस पर ध्यान नहीं दिया, उनके मन में कोई क्षोभ नहीं है। और यह ठीक भी था, क्योंकि ईश्वर की आप कितनी भी प्रशंसा कीजिए, कितनी भी निन्दा कीजिए, उस पर क्या प्रभाव पड़ेगा? आपने यदि कहा – ईश्वर है ही नहीं, तो क्या वह स्वयं को सिद्ध करने के लिए बेचैन हो जायेगा? ऐसी चेष्टाएँ तो हम लोग करते हैं – दिखा देंगे कि हम कौन हैं।

जनक ने जो कहा, सो कहा। यदि कोई श्रीराम से पूछता कि इतना प्रेम था और आपने धनुष तोड़ने के लिए रंचमात्र भी प्रयत्न नहीं किया? तो कहते – "जो वस्तु अप्राप्त होती है, उसी को तो पाने की चेष्टा होती है। सीता मुझसे अभिन्न है, उसे पाना क्या है? लोगों को भ्रम था कि धनुष टूटने पर वे मिलेंगी, तो बेचारे चेष्टा कर रहे थे। मुझे क्या पाना था?"

ब्रह्म पूर्ण काम है, आत्माराम है, वह सीता से अभिन्न हैं। पर लक्ष्मण को बुरा लगा। भगवान की कोई निन्दा करे, तो उन्हें कुछ नहीं लगता, पर भक्त को बड़ा बुरा लगता है; और वैसे ही यदि कोई भक्त की निन्दा करे, तो भक्त को बुरा नहीं लगता, पर भगवान को बहुत बुरा लगता है। दोनों के बीच बड़ा अनोखा खेल चलता है। लिखा है – जब भरतजी भगवान से मिलने जा रहे थे, तो स्वार्थी इन्द्र को लगा कि इससे तो बड़ा अनर्थ हो जायेगा। तब उसने कोई ऐसी योजना बनाने की सोची कि दोनों की भेंट ही न हो –

रामहि भरतहि भेट न होई। २/२१७/८

पर इतना विवेक तो था कि योजना को क्रियान्वित करने से पहले गुरुजी से उसका औचित्य पूछ लिया। गुरुदेव कुछ देर तो बोले ही नहीं। बार-बार इन्द्र के मुख की ओर देखते रहे। गुरु बृहस्पति को लगा – "दो आँखवाले अन्धे तो देखे हैं, पर यह हजार आँखवाला अन्धा आज ही दीख रहा है। कहते हैं कि इन्द्र की हजार आँखें हैं। इस अविवेकी को लगता है कि इसके रोकने से राम और भरत की भेंट नहीं होगी।" गुरुजी ने पूछा – ऐसी योजना क्यों बन रही है? बोले – महाराज, इसलिए कि भगवान ने हमारे लिए ही तो अवतार लिया है। – "तुम्हारे लिए? तुम्हारे ऊपर रावण का अत्याचार कब से चल रहा है? ईश्वर तुम्हारे लिए आते, तो बहुत पहले ही आ जाते। वे तुम लोगों के लिए नहीं आते। हाँ, यह बात और है कि उनके आने का लाभ तुम भी पा लेते हो।" उन्होंने याद दिलाया – इतिहास देख लो, हिरण्य -कश्यप ने कितना अत्याचार किया, तुम्हें किस प्रकार दास बनाए रखा। ईश्वर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। याद रखना – कोई ईश्वर के प्रति कितना भी अपराध करे, तो ईश्वर को क्रोध नहीं आता, लेकिन यदि कोई भक्त के प्रति अपराध कर दे, तो वह प्रभु की क्रोधाग्नि से भस्म हुए बिना नहीं रहता –

सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ।
निज अपराध रिसाहिं न काऊ।।
जो अपराधु भगत कर करई।
राम रोष पावक सो जरई।। २/२१७/४-५
सहे सुरन्ह बहु काल बिषादा।
नरहरि किए प्रगट प्रहलादा।। २/२६४/५

प्रभु तुम्हारे लिए नहीं, प्रह्लाद के लिये आए। आ गये, तो तुम्हारी समस्या का भी समाधान हो गया। तुम्हारे लिए बिलकुल नहीं आए। आज भी प्रभु यदि वन में हैं, तो तुम्हारे लिए नहीं, भरत के लिए हैं। वह लीला तो उनके लिए है, तुम तो उसका लाभ लेनेवाले एक व्यक्ति हो। मन्थन चल रहा है। श्रीराम विरह की मथानी से मथ रहे हैं। तुम मथानी को पकड़ने की धृष्टता न करना –

पेम अमिय मन्दरु विरहु भरतु पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर।। २/२३८

और यहाँ भी, जनकजी की बात को श्रीराम ने भी तो सुना, पर लक्ष्मण को यह बात बुरी लग गई और क्रोध में उनके होठ फड़कने लगे, आँखों में लाली आ गई –

माखे लखनु कुटिल भइँ भौंहें।
रदपट फरकत नयन रिसौंहें।। १/२५२/८

यहाँ भी विरोधाभास है। यदि कोई लक्ष्मणजी से पूछता – "यहाँ श्रीराम भी तो बैठे हैं। उन्हें तो बुरा नहीं लग रहा है, आपको ही क्यों लग रहा है?" तो कहते – "उनका तो बुरा मानने का स्वभाव ही नहीं है, पर मैं नहीं छोड़ सकता। इनके रहते जनक को ऐसा कहने का साहस ही कैसे हुआ –

कहि न सकत रघुबीर डर, लगे बचन जनु बान।
नाइ राम पद कमल सिरु बोले गिरा प्रमान।। १/२५२

लखन सकोप बचन जे बोले ।
डगमगानि महि दिग्गज डोले ।।
सकल लोग सब भूप डेराने ।
सिय हियँ हरषु जनकु सकुचाने ।। १/२५३/१-२

इसका बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा? जनकजी संकोच में पड़ गये और विश्वामित्र मन-ही-मन प्रसन्न हुए – अच्छा हुआ कि मैं दोनों को ले आया, अन्यथा इन्हें तो बुरा ही नहीं लगता और ये उठते भी नहीं। उन्हें लगा कि दोनों को लाने का मेरा निर्णय आज सार्थक हो गया। लक्ष्मणजी जब अपनी भूमिका निभा चुके, तब विश्वामित्र तथा सारे मुनियों ने बड़े प्रेम से लक्ष्मण को साधुवाद दिया और सीताजी भी बडी प्रसन्न हुई। आगे वन-गमन के प्रसंग में जब प्रभु सीताजी से बोले कि वन में सिंह रहते हैं, अनेक पशु रहते हैं, जिनके गरजने से बड़े-बड़े धीर काँप उठते हैं। तब उन्होंने प्रभु की ओर देखा और बोलीं – आप ठीक कहते हैं, पर जिसने लक्ष्मण की गर्जना सुन ली है, वह क्या सिंह की गर्जना से डरेगा? जब वे गरज रहे थे, तो सारी पृथ्वी काँप रही थी, पर सीताजी को बड़ा हर्ष हुआ, विश्वामित्रजी बड़े प्रसन्न हुए और तब भगवान में जो उत्पन्न होना था, वह भी हुआ – उनके शरीर में रोमांच हो आया –

गुर रघुपति सब मुनि मन मांहीं ।
मुदित भये पुनि-पुनि पुलकाहीं ।। १/२५३/३

ब्रह्म के शरीर में रोमांच आ जाना कोई साधारण बात नहीं है। आप जानते हैं कि विराट् रूप में भगवान का रोम कैसा है। जिनके एक-एक रोम में करोड़ों ब्रह्माण्ड हैं, उन्हें रोमांच आये तो वह कैसा होगा ! तो भगवान पुलकित हो गये और काम बन गया। प्रभु ने बिना कुछ कहे, संकेत से लक्ष्मणजी को शान्त किया और प्रेमसहित अपने पास बैठा लिया –

सयनहि रघुपति लखनु निवारे ।
प्रेम समेत निकट बैठारे ।। १/२५३/४

लक्ष्मणजी जब बोले, तो सारी धरती हिल गई थी। मानो उनका तात्पर्य था कि महाराज, इस समय तो आप और धनुष – दोनों ही अडिग हैं। न धनुष डिग रहा है न आप डिग रहे हैं, तो दोनों में एक डिग जाय तो अच्छा रहेगा। यह अडिग रहकर महान् कष्ट दे रहा है और आप सामर्थ्य होते हुए भी अडिग रहकर पीड़ा दूर नहीं कर रहे हैं। और तब महर्षि विश्वामित्र ने कहा – राम, उठो, पर सीताजी को पाने के लिए नहीं, बल्कि जनकजी की पीड़ा को हरने के लिए –

मेटहु तात जनक परितापा ।। १/२५३/६

सर्वत्र यही सूत्र मिलेगा। लक्ष्मण भगवान के लिए प्रेरक का काम करते हैं – नगर-दर्शन के लिए, पुष्प-वाटिका जाने के लिए और धनुष-यज्ञ के लिए। उनकी यही दिव्य भूमिका है। लक्ष्मण क्या ऐसा कोई स्थान स्वीकार कर सकते हैं, जहाँ वासना, अपवित्रता या दोष हो? इन्हें नष्ट होना चाहिए, मिटना चाहिए। यही लक्ष्मणजी की भूमिका है। और भक्तिरूपी सीता के माध्यम से ही भगवान के हृदय में रस का संचार होता है, उन्हीं को निमित्त बनाकर ही प्रभु सारा कार्य सम्पन्न करेंगे। उनके मन में रावण-वध का संकल्प भी तभी उत्पन्न हुआ, जब सीताजी का हरण हुआ। सर्वत्र वही सूत्र – ब्रह्म जिस रूप में विद्यमान है, वह हमारी समस्याओं का समाधान नहीं देता, पर जब लक्ष्मणजी के रूप में वैराग्य और सीताजी के रूप में साक्षात् भक्ति पधार जाती हैं, तो इसके सहज परिणाम से, इन दोनों की प्रेरणा से कार्य सम्पन्न हो जाता है। इसीलिए लक्ष्मण को जरा-सा भी विलम्ब सहन नहीं होता।

समुद्र को पार करना था। प्रभु बोले – आप लोग मंत्री हैं, बताइए, समुद्र कैसे पार किया जाय? विभीषणजी ने कहा – समुद्र आपका कुलगुरु है, आप अनशन करके प्रार्थना कीजिए, समुद्र मार्ग बतावेगा। प्रभु ने सुना और वही सहज उत्तर दिया – दैव अगर सहायक होगा, तो सफलता मिलेगी –

सखा कही तुम नीक उपाई ।
करिअ दैव जौं होइ सहाई ।। ५/५०/१

अब लक्ष्मणजी की भूमिका देखिए। 'दैव' शब्द सुनते ही इतने तिलमिला गये कि बोल उठे – आलसी निकम्मे लोगों के शब्द आप मत बोलिए, ये उन्हीं के लिए छोड़ दीजिए –

नाथ दैव कर कौन भरोसा ।
सोषिय सिन्धु करिय मन रोसा ।।
कादर मन कहुँ एक अधारा ।
दैव दैव आलसी पुकारा ।। ५/५०/३-४

वैराग्य-रूपी लक्ष्मणजी ही तो साधन की प्रेरणा देंगे। वे बोले – "यदि हम दैव को ही महत्त्व दें और स्वयं कुछ न करें, तो यह कायरों की बात है। दैव तो न जाने कब अनुकूल होगा। आपके पास तो धनुष है, बाण हैं, आप क्रोध कीजिए। आपको यहाँ शान्ति के लिए नहीं लाया गया है। परम शान्त ब्रह्म के रूप में तो आप सदा विद्यमान हैं ही, परन्तु इस समय क्रोध की जरूरत है।" और आनन्द तो तब आया, जब लक्ष्मण की बात सुनकर प्रभु को बुरा नहीं लगा कि "छोटा भाई होकर ऐसी बात कह रहा है। मैंने केवल 'दैव' शब्द ही तो कहा, क्या मैं आलसी हूँ।" हँसते हुए बोले – "कोई बात नहीं, मैं यदि आलसी भी होऊँ, तो तुम जैसा भाई है, वही सब कर लेगा। चलो ऐसा ही करूँगा। तुम धैर्य धारण करो" –

सुनत बिहसि बोले रघुबीरा ।
ऐसेहिं करब धरहु मन धीरा ।। ५/५०/५

लक्ष्मण ने कहा – 'शौर्य' और प्रभु बोले – 'धैर्य'। दोनों मिलें, तभी काम होगा। हमारे अन्तःकरण में वैराग्य और भक्ति के साथ भगवान का आगमन होना चाहिए। और उसके लिए कौन-सा साधन है और वह साध्य को कैसे उपलब्ध कराता है? महर्षि वाल्मीकि ने चौदह स्थानों में कथा-श्रवण

की भक्ति को प्रथम स्थान दिया। यदि आपको कहीं सिफारिश करनी हो और कई लोग हों, तो आप कहेंगे कि ये-ये लोग उपयुक्त हैं, पर उनमें भी जो आपके सर्वाधिक प्रिय होंगे, उसे पहले बतावेंगे। महर्षि वाल्मीकि रामायण के रचयिता हैं, अतः सर्वप्रथम उन्होंने श्रोताओं का ही पक्ष लिया। बोले – श्रोताओं के हृदय में निवास कीजिए। और कथा सुनने से क्या होगा? श्रीमद्भागवत में बताया गया है – ज्ञान, भक्ति तथा वैराग्य – तीनों बूढ़े हो गये थे और तीनों को जवान करना आवश्यक था। तीनों में से एक भी वृद्ध रह गया, निष्क्रिय रहा, तो वह कल्याणकारी नहीं होगा। इसलिए श्रीमद्भागवत की कथा के द्वारा भक्ति यदि वृन्दावन पहुँचकर युवा भी हो गई, तो उससे काम नहीं होगा। केवल भक्ति ही हो, ज्ञान और वैराग्य न हो, तो अधूरापन रह जाता है। तीनों में से किसी एक के भी अभाव में अधूरापन रह जाता है।

तो सर्वश्रेष्ठ साधन है – भगवत्कथा का श्रवण। महाराज परीक्षित ने कथा सुन ली और सुनने के बाद भी परिस्थितियाँ नहीं बदलीं। उनकी मृत्यु तो नहीं टली, पर देह से उन्हें इतना वैराग्य हो गया कि उनके मन में मृत्यु का रंच मात्र भी भय नहीं रह गया। दिव्य भक्ति-रस का उन्होंने ऐसा पान कर लिया कि काल भी भयभीत हो गया कि इस शरीर को मैं कैसे नष्ट कर सकता हूँ! जिस अमृत का उन्होंने पान किया है, उससे बढ़कर कोई वस्तु है ही नहीं। महर्षि वाल्मीकि बोले – आप अकेले तो सर्वत्र निवास करते हैं, पर अब मैं वे स्थान बताता हूँ, जहाँ आप सीताजी और लक्ष्मण के साथ निवास करें। उनके द्वारा बतायी हुईं चौदह साधनाओं में से यदि एक भी हमारे जीवन में आ जाय, तो वह साधना ही नहीं, साध्य बन जायेगा और यही बात नवधा भक्ति के प्रसंग में भी है। वहाँ भी भगवान यह नहीं कहते कि एक भक्ति के बाद दूसरी, फिर तीसरी ...। वे कहते हैं कि इन नौ में से एक के भी जीवन में आने से जीवन परिपूर्ण हो जाता है –

नव महुँ एकउ जिन्हकें होई।
नारि पुरुष सचराचर कोई ।। ३/३६/६

ठीक वही सूत्र यहाँ भी है। महर्षि वाल्मीकि ने सर्वप्रथम आग्रह किया – जो भक्त कथा-श्रवण करते हैं, आप उनके हृदय में निवास करेंगे। प्रभु ने स्वीकार किया। लेकिन श्रोता कौन हैं और सुनना कैसे चाहिए? तब महर्षि वाल्मीकि ने वह सूत्र दिया – जिन्होंने कान को समुद्र बना लिया है –

जिन्हके श्रवन समुद्र समाना। २/१२८/४

ऐसी बात नहीं कि हम लोगों के कान समुद्र नहीं है। पर समुद्र में जो भरा जा रहा है, वह कुछ दूसरा ही है। पुराण में एक कथा आती है। पृथु नाम के एक राजा थे। भगवान ने उनसे पूछा – तुम क्या चाहते हो? वे बोले – महाराज, मुझे दस हजार कान दे दीजिए। – क्यों? बोले – मैं दस हजार कानों से निरन्तर आपकी कथा सुनता रहूँ। फिर किसी दुष्ट व्यक्ति से ब्रह्माजी ने कहा – तुम्हें क्या चाहिए? वह बोला – मुझे दस हजार कान चाहिए। ब्रह्माजी ने सोचा – यह तो बिल्कुल पृथु महाराज जैसा निकला। पर दस हजार कान वह किसलिए चाह रहा था? बोला – इतने कान मिल जायँ, तो उनसे सदा दूसरों की खूब निन्दा सुनते रहें –

पुनि प्रनवउँ पृथुराज समाना।
पर अघ सुनइ सहस दस काना ।। १/४/९

निन्दा सुनते समय लगता है कि सुनकर तृप्ति ही नहीं हो रही है। कहता है – और बताओ, ठीक से बताओ, पूरी बात बताओ, क्या हुआ, कैसे हुआ? और कितना मजा लेता है!

अतः कान तो समुद्र के समान बन जायँ और श्रोता के क्या लक्षण हों? पहली बात तो यह है कि उसे केवल मति नहीं चाहिए। मति के साथ दो शब्द बड़े महत्त्व के हैं – सुमति और सुमति ही नहीं, निर्मल मति चाहिए –

श्रोता सुमति सुसील कथा रसिक हरि दास। ७/६९

इस प्रकार रामायण में कुमति, मति, सुमति, निर्मल मति अनेक मति का वर्णन किया गया है। निर्बुद्धि व्यक्ति की बात और है, पर बुद्धिमान व्यक्ति की बड़ी समस्या यह है कि जैसे किसी व्यक्ति के हाथ में बड़ी पैनी छुरी हो और वह वस्तु के स्थान पर अपनी ही उँगली को काट ले, यही बुद्धि की बड़ी समस्या है। बुद्धिमान में इसी की आशंका बनी रहती है।

सतीजी प्रजापति दक्ष की पुत्री हैं। दक्ष का अर्थ है चतुर और सती चतुर की पुत्री हैं, बड़ी बुद्धिमती हैं। भगवान शंकर से विवाह हुआ है। शंकरजी ने रामकथा का निर्माण करके उसे अपने हृदय में रख लिया था। किसी को सुनाया नहीं। श्रोता मिलता, तब तो सुनाते। श्रीराम दण्डकारण्य में निवास कर रहे थे। वे सतीजी से बोले – मैं दण्डकारण्य जा रहा हूँ। – "दण्डकारण्य, जो अपवित्रता की सीमा है, कैलाश छोड़कर आप वहाँ जाएँगे? क्यों महाराज, क्यों जा रहे हैं?" बोले – "कथा सुनने। – आश्चर्य! कथा सुनने आप कैलाश से दण्डकारण्य जा रहे हैं, आपको दूसरा कोई स्थान नहीं मिला?" फिर सोचने लगीं – कोई बहुत बड़े वक्ता होंगे। पर हमारे पतिदेव से बड़े तो कोई वक्ता ही नहीं हैं। तो पूछ दिया – महाराज, कथा किससे सुनेंगे? बोले – कुम्भज से। घड़े के बेटे से। अब सतीजी सोचने लगीं – आज तो हद हो गई, समुद्र चला है घड़े के बेटे के पास कथा सुनने। शंकरजी समुद्र हैं –

चरित सिंधु गिरिजा रमन वेद न पावहिं पारु ।। १/१०३

बोलीं – अच्छा, तो महाराज, मैं भी चलूँ? मन में सोच लिया कि इसी बहाने साथ में मैं भी यात्रा करूँ।

यही सूत्र है। कथा-श्रवण के लिए कहाँ जाना चाहिए? भगवान शंकर ने पार्वतीजी को कैलाश की ऊँचाइयों में कथा सुनाई, पर स्वयं उन्होंने पहली कथा जो सुनी, वह दूसरे के मुँह

से दण्डकारण्य में सुनी। इसमें एक आध्यात्मिक संकेत है। शंकरजी उन्हें प्रेरित तो दण्डकारण्य में करते हैं, पर वे ही सतीजी जब अगले जन्म में पार्वती बनीं, तो शंकरजी ने उन्हें कैलाश-शिखर पर कथा सुनाई। यहाँ आध्यात्मिक संकेत यह है कि भगवान शिव कैलाश पर्वत पर समाधि में स्थित रहते हैं और समाधि क्या है? पांतजल योग में है – **योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः** – वृत्तियों का जिसमें पूरी तरह निरोध हो गया हो, ऐसा चित्त समाधि में स्थित होता है। शंकरजी जब कैलाश पर्वत पर बैठते हैं, तो उन्हें अखण्ड और अपार समाधि लग जाती है –

संकर सहज सरूपु सम्हारा।
लागि समाधि अखंड अपारा।। १/५८/८

कैलाश पर्वत चित्त का वह स्थान है, जो पूरी तौर से निर्विकल्प समाधि की स्थिति की भूमि है। और गोस्वामीजी दण्डकारण्य की तुलना जीव के मन से करते हैं –

दंडक बन प्रभु कीन्ह सुहावन।
जन मन अमित नाम किए पावन।। १/२४/७

दण्डकारण्य मन और कैलाश समाधि में स्थित चित्त है। कथा सुनने के लिए पहला सूत्र है कि कोई भी व्यक्ति तब तक कथा नहीं सुन सकता, जब तक वह कान के साथ-साथ मन को भी न लगावे। आप में भी जो कान खोले बैठे है और मन कहीं अन्यत्र है, उन्हें सुनाई नहीं दे रहा होगा। मन ही पहला केन्द्र है, जहाँ बैठकर व्यक्ति कथा सुनेगा। और मन से लेकर कैलाश पर्वत तक का यह तत्त्व ही रामायण का दर्शन है।

क्या कारण है शंकर जी को नीचे उतरने की आवश्यकता पड़ी? बिना नीचे उतरे कथा नहीं सुनी जा सकती। शरीर की दृष्टि से आप ऊपर बैठे हैं या नीचे, आगे बैठे हैं या पीछे – इसका कोई महत्त्व नहीं। महत्त्व इसका है कि आप हृदय से कहाँ बैठे हुए हैं। भगवान शंकर ने कहा – यदि आप श्रोता बनना चाहते हैं, कथा सुनना चाहते हैं, तो आप बड़े-से-बड़े योगी हों, तो भी आपको चित्त की भूमि से उतरकर मन की भूमि पर आना होगा। इसलिए लिखा हुआ है –

जीवन्मुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान।
जे हरि कथाँ न करहिं रति तिनके हिय पाषान।। ७/४२

महापुरुष जब कथा-श्रवण करना चाहते हैं, तो समाधि की उस दिव्य चित्तभूमि से उतरकर मन की भूमि पर आते हैं। शंकरजी का आशय है कि भूमि चाहे जितना अपवित्र हो, पर वहाँ बैठकर कथा सुनने को मिलेगी और भगवान भी उस समय दण्डकारण्य में ही निवास कर रहे थे।

भगवान का निवास पहले कहाँ होगा? आप ध्यान करेंगे, तो पहले मन को ही केन्द्र बनाकर करेंगे। तो वहीं भगवान भी हैं और वहीं पर कथा भी हो रही है। शंकरजी कहते हैं – दण्डकारण्य चलेंगे। सतीजी चलीं, परन्तु भगवान शंकर ने दूसरा सूत्र दिया। – श्रीराम बड़े हैं या उनकी कथा बड़ी है? श्रीराम के दर्शन करने नहीं, कथा सुनने जा रहे हैं।

कथा सुनकर लौट रहे थे, तो नेत्रों ने उलाहना दिया – कानों के प्रति इतना पक्षपात? सुनकर ही लौट रहे हैं। शंकरजी बोले – "क्या करूँ, जाता तो अवश्य, परन्तु प्रभु की लीला बिगड़ जायेगी। जाकर मैं प्रणाम किए बिना नहीं रह सकूँगा। और मेरे प्रणाम करते ही सब लोग जान जायेंगे कि शंकरजी प्रणाम कर रहे हैं, तो श्रीराम ईश्वर हैं। हमारे प्रभु मनुष्य बनकर लीला कर रहे हैं, मुझे उसमें व्यवधान नहीं डालना चाहिए।" भगवान ने सोचा – इन्होंने तो कानों का पक्ष ले लिया, पर नेत्रों की लालसा मैं पूरी करूँगा।

शंकरजी के मनोभाव का गोस्वामीजी ने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। शंकरजी सतीजी के साथ कुम्भज अगस्त्यजी के आश्रम में जाते हैं। वक्ता को तो वस्तुतः कुम्भज ही होना चाहिए, क्योंकि वे कुम्भ के पुत्र होते हुए भी समुद्र को पी लेनेवाले अगस्त्य हैं। वस्तुतः जिसके हृदय-रूपी कुम्भ में समग्र वेद-पुराण का समुद्र स्थित हो गया है, वही कथा का अधिकारी है। अगस्त्यजी ने ज्योंही देखा कि शंकरजी और सतीजी पधारे हैं, तो वे बड़े प्रसन्न हुये। – मेरा कितना बड़ा सौभाग्य कि आज स्वयं जगन्माता और जगत्पिता पधारे हैं। उन्होंने दोनों का पूजन किया। पूज्य कौन है – वक्ता या श्रोता? श्रोताओं के द्वारा वक्ता की पूजा की जाती है और की जानी चाहिए भी। परन्तु वक्ता यदि सही वक्ता है, तो समझ लेगा कि श्रोता उस पर कितनी बड़ी कृपा कर रहा है। और वह कृपा यह है कि वक्ता श्रोता को निमित्त बनाकर ही तो भगवत्कृपा पा रहा है! वह श्रोता का प्रश्न सुनकर, उसकी जिज्ञासा देखकर ही तो बोल रहा है!

उन्होंने भगवान शंकर और सतीजी का स्वागत किया और पूछा – आपने कैसे कष्ट किया? बोले – आज आपसे प्रभु की कथा सुनने आए हैं। श्रोता शंकरजी प्रभु की लीला-कथा के दिव्य रस का आस्वादन कर रहे हैं –

पूजे रिषि अखिलेस्वर जानी।
राम कथा मुनि बर्ज बखानी।
सुनी महेस परम सुखु मानी।। १/४८/२-३

परन्तु यहीं से विच्छेद भी शुरू हुआ। श्रोता दो ही हैं, जिसमें से एक को सुख मिला और दूसरे को नहीं मिला। भगवान शंकर जब कथा सुन चुके, तो अगस्त्यजी बोले – महाराज, कथा के अन्त में दक्षिणा दी जाती है, आप भी कुछ दीजिए। – क्या चाहिए? बोले – मैंने कथा सुनाई, कथा का फल तो भक्ति है। आप भक्ति की व्याख्या कर दीजिए –

रिषि पूछी हरिभगति सुहाई।
कही संभु अधिकारी पाई।। १/४८/४

अस्तु। पर सतीजी ने कथा-श्रवण नहीं किया। क्यों नहीं किया? उनके मन में कई बातें थीं। एक तो यह कि मैं

पतिव्रता हूँ, अत: पति के सिवा अन्य के बारे में सुनने की क्या जरूरत? मुझे अन्य किसी साधन की जरूरत नहीं है? इस तरह धर्म की जगह धर्माभिमान आ जाने से बड़ी कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। इसीलिए परवर्ती काल में शंकरजी जब पार्वतीजी को कथा सुनाने लगे, तो बीच में बोले – सती, तुम धन्य हो, तुम्हारी मति बड़ी पवित्र है –

धन्य सती पावन मति तोरी। ७/५५/७

पार्वतीजी चौंक उठीं – "ये मेरे पूर्वजन्म का नाम क्यों ले रहे है? मेरे सुनने में इन्हें कोई कमी दिखाई दे गई क्या?" पुराने नाम के साथ तो बड़ी बुरी स्मृतियाँ जुड़ी हुई हैं। परन्तु शंकरजी बोले – "मैं सती क्यों कह रहा हूँ? पूर्वजन्म में तुम्हारा नाम सती था और लौकिक अर्थों में कोई सन्देह नहीं कि तुम 'सती' शब्द के योग्य थी।"

सन्त आलोचना भी करते हैं, तो बड़ी चतुराई से। यह नहीं कहा कि तुम्हारी बुद्धि अपवित्र थी। कहा – तुम्हारी बुद्धि अब बड़ी पवित्र है। हमारे श्री उड़िया बाबा महान् सन्त थे। एक बार (आश्रम में) कोई बड़े विद्वान् वक्ता आए। उन्होंने बड़ा पाण्डित्यपूर्ण प्रवचन दिया। सबको लगा कि बड़े विद्वान् हैं। किसी ने बाबा से पूछा – आपको इनकी कथा कैसी लगी? बाबा बोले – "बड़े अच्छे पण्डित हैं, पर लगता है कि कभी साधु-समाज में कथा नहीं सुनाई।" एक ही वाक्य में बहुत कुछ कह दिया। वे कथा के दौरान बार-बार, हर दस मिनट बाद कहते – "मैं जो कह रहा हूँ, वह आज तक किसी ने नहीं कहा। मैं जीवित हूँ तब तक सुन लो, मर जाऊँगा, तो तुम्हें सुनानेवाला कोई नहीं मिलेगा।"

शंकरजी बोले – धन्य हो सती, तुम्हारी मति आज पावन है। लोग तुम्हें पूर्वजन्म में सती मानते थे, पर मैं अब मानता हूँ। – क्यों, महाराज? बोले – इसलिए मानता हूँ कि अब तुम्हारे मन में भगवान के चरणों में इतनी प्रीति है –

रघुपति चरन प्रीति नहिं थोरी।। ७/५५/७

उनका तात्पर्य था – "सती उसी को कहते हैं, जिसका मन पति के मन के साथ एक हो जाय। मेरा मन जिन चरणों में लगा है, तुमने भी अपना मन वहीं लगा लिया है, अत: मुझे लगता है कि आज ही सती शब्द सार्थक हुआ। पहले तुम्हारी बुद्धि श्रेष्ठ भले रही हो, पर पवित्र नहीं थी। तुमने धर्माभिमान के कारण कथा नहीं सुनी। अभिमान के कारण तुमने सोचा कि मैं पतिव्रता हूँ या यह माना कि अगस्त्य ने जब मेरी पूजा स्वयं की है तो मुझसे कम बुद्धिमान होंगे, तभी तो इन्होंने मेरी पूजा की। तो फिर मैं इनसे कथा क्यों सुनूँ?"

ऋषिगण सूत से कथा सुनते हैं। सूत तो उच्च वर्ण के नहीं है, परन्तु जो सच्चे महापुरुष हैं, वे जहाँ भी भगवत्-कथा श्रवण करने को मिले, श्रवण करते हैं। अत: जब तक हमारे अन्त:करण में बुद्धि का अभिमान है, धर्म का अभिमान है, पुण्य का अभिमान, श्रेष्ठता का अभिमान है, आश्रम का अभिमान है; तब तक हमें कथा सुनने की इच्छा नहीं होगी। जो पापी होगा, उसी को तो कथा सुनने की जरूरत होगी?

तो नेत्रों के उलाहना देने पर शंकरजी बोले – मैं तो कुछ नहीं कर सकता। भगवान ने सोचा – नेत्र मेरे रूप के लिए व्यग्र हैं, तो मेरा कर्तव्य है कि दर्शन दे दूँ। वे स्वयं प्रकट हुए और शंकरजी को बड़े आनन्द की अनुभूति होती है –

शंकर उर अति छोभु सती न जानहिं मरमु सोइ।
तुलसी दरसन लोभु मन डरु लोचन लालची।। १/४८

परन्तु उसी दृश्य को देखकर दक्षपुत्री सती के हृदय में संशय और मोह का उदय होता है। सुमति से युक्त, सुशील तथा पवित्र व्यक्ति ही सच्चा श्रोता हो सकता है –

श्रोता सुमति सुसील सुचि।

सतीजी इन गुणों से दूर हो गईं और इसका परिणाम यह हुआ कि जिन श्रीराम के दर्शन से व्यक्ति को अपने स्वरूप की प्राप्ति होती है, उस लाभ से वे वंचित रह गईं।

इसलिए कथा-श्रवण की सार्थकता तब है, जब उसे सुनने के बाद धीरे-धीरे कथा-रस का आनन्द बढ़ता रहे। कथा सुनकर यदि कोई कहे कि मैं तृप्त हो गया, तो उसे कथा का 'रस-विशेष' नहीं मिला है, क्योंकि यदि वह दिव्य रस पा लेगा, तो वस्तुत: उसके अन्त:करण में बार-बार सुनते रहने की अभिलाषा उत्पन्न होगी –

राम चरित जे सुनत अघाहीं।
रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं।। ७/५३/१

कथा में प्रभु का चरित्र उनका शब्दमय विग्रह है। सुनकर पाना नहीं है। आप सुन रहे हैं, भगवान आपके सामने हैं, वाङ्मय रूप में प्रगट हैं। पर इस रूप में प्रभु को धारण करने हेतु एक विशेष साधना सम्पन्न होती है और तब वह स्थिति आती है। सती कथा नहीं सुन पाईं, पार्वती बन गईं और जब इतने दिनों बाद गणेश तथा कार्तिक का जन्म हो गया, तब कहीं अवसर आया कि सतीजी ने भगवान शंकर से कथा श्रवण किया। और सुनने के बाद जब रामायण पूरी होने लगी, तब पार्वतीजी से पूछा – मैंने तो अपनी समझ से कथा पूरी कर दी, तुम्हें क्या लग रहा है? बोलीं – महाराज, सत्य तो यह है कि यदि मैं आपसे कहूँ कि सुनाते ही रहिए, तो यह आपके प्रति थोड़ा अन्याय हो जाएगा, पर यही कह सकती हूँ कि आपके मुखचन्द्र से कथा का अमृत टपक रहा है और महाराज, तृप्ति बिलकुल भी नहीं हो रही है –

नाथ तवानन ससि स्त्रवत कथा सुधा रघुबीर।
श्रवन पुटन्हि मन पान करि नहिं अघात मतिधीर।।७/५२

इस प्रकार जब व्यक्ति के कान समुद्र बन जायँ और वह कथा सुनकर न अघाए, तो प्रभु हृदय में पधारते ही हैं।

❖ (क्रमश:) ❖

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

ऋग्वेद (१/१६४/४६) की एक ऋचा कहती है – "जिसे लोग इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि कहते हैं, वह सत्ता केवल एक ही है, ऋषि लोग उसे भिन्न भिन्न नामों से पुकारते हैं।"

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

इस ऋचा के द्वारा जो सत्य प्रकट हुआ है, भारतीय जीवन-पद्धति पर उसके बड़े ही दूरगामी प्रभाव पड़े हैं। इस सत्य ने एक साँचे का काम किया है, जिसमें भारतवासी अपने जीवन को ढालने की चेष्टा करते रहे हैं। इस ऋचा ने हमारी रगों में उदारता का रक्त बहाया है – ऐसी उदारता जो विश्व के अन्य किसी धर्म में हमें नहीं मिलती। इस सत्य की शिक्षा का ही परिणाम है कि हिन्दू ने धर्म के नाम पर कभी खून-खराबी नहीं की।

कुछ लोगों ने उक्त ऋचा में 'बहुदेववाद' देखा है, वे कहते हैं कि हिन्दू Polytheistic यानी 'बहुदेववादी' हैं। वस्तुतः उन्होंने ऋचा के मर्म को नहीं जाना। प्रोफेसर मैक्समूलर ने हिन्दुओं के इस दृष्टिकोण के लिए एक नये नाम की रचना की है। वे कहते हैं कि यह दृष्टिभंगी हिन्दुओं की विशेषता है। वे इसे 'हेनोथिज्म' (Henotheism) कहकर पुकारते हैं। इसका अर्थ है – अनेक देवताओं में से एक को सर्वप्रधान मानकर उसकी पूजा करना। मैक्समूलर का यह चिन्तन भले ही पूर्वोक्त विचार की तुलना में काफी आगे गया हुआ है, फिर भी वह समूचे सत्य को व्यक्त नहीं करता। वे भी इस ऋचा में कहे गये सत्य की सूक्ष्मता को पूरी तरह से नहीं पकड़ पाते। आइए, उस सत्य को समझने की चेष्टा करें।

ऋग्वेद में हम देखते हैं कि वहाँ एक के बाद दूसरे देवता लिये गये हैं, उन्हें ऊपर उठाया गया है, उनकी महिमा और प्रभुता की क्रमशः वृद्धि की गयी है और अन्त में उनमें से प्रत्येक को विश्व के उस अनन्त सगुण ईश्वर की पदवी पर बिठा दिया गया है। इसीलिए 'बहुदेववाद' या 'हेनोथिज्म' का भ्रम होता है। पर हकीकत क्या है? यह जानने के लिए दूसरे धर्मों की पौराणिक कथाओं की ओर दृष्टिपात करना हमारे लिए लाभदायक रहेगा। बाबिल या यूनान देश की पौराणिक कथाओं में हम देखते हैं कि एक देवता आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है और एक उच्च अवस्था में पहुँचकर वहीं जम जाता है तथा दूसरे देवता लुप्त हो जाते हैं। 'मोलोकों' में 'जिहोवा' सबसे श्रेष्ठ बन जाता है और अन्य सब 'मोलोक' भुला दिये जाते हैं, सदा के लिए लुप्त हो जाते हैं, 'जिहोवा' देवाधिदेव के आसन पर विराजमान हो जाता है। इसी तरह यूनानी देवताओं में 'जिउस' नामक देवता प्राधान्य लाभ करता है और उत्तरोत्तर अधिकाधिक महिमान्वित होता हुआ अन्त में विश्वविधाता के सिंहासन पर आरूढ़ हो जाता है, अन्य सभी देवता क्षीणप्रभ होकर साधारण देवदूतों की श्रेणी में समाविष्ट हो जाते है। यह तो वैसा ही हुआ जैसे एक राजा एक दूसरे के द्वारा विजित कर लिया गया, इससे विजेता राजाधिराज के सिंहासन पर जा बैठा और विजित उसके मातहत हो गया। समस्त संसार के धर्मेतिहास में यही प्रणाली प्रचलित है।

कोई पूछ सकता है कि क्या वेदों में भी इस प्रणाली का अनुसरण नहीं किया गया? एक कबीले ने दूसरे पर आक्रमण कर उसे गुलाम बना लिया, फलस्वरूप विजेता कबीले का देवता सबसे ऊँचे आसन पर जा बैठा और हारे हुए कबीले के देवता की फजीहत हो गयी? नहीं, वैदिक देवताओं की ऐसी प्रणाली नहीं रही। वेदों में हम मानो इसका अपवाद पाते हैं। यहाँ किसी एक देवता की स्तुति की जाती है और उस समय तक यह कहा जाता है कि अन्य सब देवता उसकी आज्ञाओं का पालन करते हैं, और जिस देवता के वरुण द्वारा बढ़ाये जाने की बात कही गयी है, वह स्वयं ही दूसरे मण्डल में सर्वोच्च पद पर पहुँचा दिया जाता है। बारी-बारी से ये देवता सगुण ईश्वर के पद पर स्थापित होते हैं। इसकी मीमांसा यह कहकर की गयी है – **एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति** – सत्ता एक है, ऋषिगण उसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं। इन सभी स्तोत्रों में, जहाँ इन विभिन्न देवताओं की महिमा गायी गयी है, जिस परम पुरुष के दर्शन होते हैं, वह एक ही है, अन्तर केवल दर्शन करनेवाले में है। एक ही सत्ता को अलग अलग ऋषि अलग अलग नाम से पुकारते हैं।

भारतीय मनीषियों के द्वारा अनुभूत और प्रतिपादित सामासिक एकता का यह दर्शन ही भारतीय सस्कृति की विशिष्टता और उसकी प्राणवत्ता है। ❑❑❑

विजय हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है (१)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(श्री संत गजानन संस्थान अभियान्त्रिकी महाविद्यालय, शेगाँव, महाराष्ट्र में स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज पिछले कई वर्षों से वहाँ के विद्यार्थियों के मध्य व्याख्यान देने के लिये जाते रहें हैं। किन्हीं-किन्हीं वर्षों में स्वामीजी ने वहाँ के विद्यार्थीयों केलिये व्यक्तित्व विकास सम्बन्धी कार्यशालाएँ भी आयोजित की थीं। कार्यशालाओं में दिये गये कुछ व्याख्यानों को उक्त महाद्यिालय ने छोटी छोटी पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित किया है। क्योंकि कार्यशालायें अंग्रेजी भाषा में आयोजित होती रही हैं, अतः पुस्तिकाएँ अंग्रेजी में प्रकाशित हुई हैं। उनमें से एक पुस्तिका "Born to Win" का हिन्दी अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर, के ब्रह्मचारी जगदीश ने किया है। - सं.)

भूमिका

प्रत्येक मनुष्य के मन में विजय-प्राप्ति की एक स्वाभाविक इच्छा होती है। विजय-प्राप्ति के क्षेत्र बहुआयामी अथवा अनन्त आयामी हो सकते हैं। मन में विजय प्राप्ति की शाश्वत इच्छा विद्यमान है। जब तक व्यक्ति अपने चुने हुये क्षेत्र में विजय प्राप्त नहीं कर लेता तब तक वह कभी भी पूर्ण सन्तुष्ट नहीं हो सकता।

जिस दिन हम अपनी माँ के गर्भ से बाहर आये उसी क्षण से ही विजय-प्राप्ति की यह इच्छा अथवा जीवन में कुछ प्राप्त करने की इच्छा हमें सतत प्रेरित करती रहती है। उदाहरणार्थ - एक हाथ और घुटनों के बल रेंगता हुआ शिशु अपने पैरों पर खड़े होने की इच्छा करता है और इस हेतु संघर्ष करता है और हम जानते हैं कि वह कितना आनन्दित होता है जब वह अपने पैरों पर खड़े होने में सफल हो जाता है। इसका अर्थ है कि उस रेंगने वाले शिशु ने अपने पैरों पर खड़े न हो पाने की अपनी असमर्थता पर विजय प्राप्त कर ली।

इससे ज्ञात होता है कि प्रत्येक व्यक्ति में अपने जीवन में आने वाली कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने की स्वाभाविक इच्छा होती है।

विजय किस पर ?

व्यवहारिक दृष्टि से जीवन ईश्वर द्वारा हमें प्रदत्त एक सीमित काल और सीमित ऊर्जा का समुच्चय है। यदि यही जीवन है तो इसका अर्थ हुआ कि एक दिन इसका अवश्य अन्त होगा। अतः हमें प्राप्त समय और शक्ति का समुचित उपयोग तब होगा जब हम उस विजय को प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे, जिससे प्राप्त कर लेने से हम पूर्ण संतुष्ट एवं परिपूर्ण हो जायें।

आइए पुनः जीवन पर गहराई से विचार करें। विचार करने पर हम पायेंगे कि कुछ बातें ऐसी हैं जिन्हें हमें अन्तिम श्वास तक किये जाना होगा। उदाहरणार्थ - खाना, सोना, काम करना आदि। लेकिन ऐसी भी कुछ बातें हैं जिन्हें हम अंतिम श्वास तक करने के लिए बाध्य नहीं हैं। उदाहरणार्थ - खेलना, यात्राएँ करना, मनोरंजन आदि। ये बातें हमारे अस्तित्व एवं जीवन के लिए आवश्यक नहीं हैं।

यहाँ पर एक साधक अथवा साधिका को जो एक महत् और सार्थक जीवन जीना चाहते हैं, अपने आपसे पूछना चाहिए, मैं किसलिए जीना चाहता हूँ/चाहती हूँ? क्या मैं ऐसी वस्तु चाहता हूँ/चाहती हूँ जो नित्य है अथवा वह वस्तु जो अनित्य है एवं समय के साथ नष्ट हो जायेगी? इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व हमें अपने व्यक्तित्व में झाँकना होगा। यदि हम गहराई से अपने जीवन का परीक्षण एवं विवेचन करें तो अपने व्यक्तित्व में हम दो तत्त्वों को पाते हैं। एक अनित्य और दूसरा नित्य। हम अपने अस्तित्व के अनित्य भाग से बहुत अच्छी तरह परिचित हैं। हम जानते हैं, हमारा शरीर परिवर्तित हो रहा है। हमारा मन लगातार भटकता रहता है और परिवर्तित होता रहता है। हम जानते हैं, जीवन के विभिन्न अनुभवों से हमारी बुद्धि में परिवर्तन होता है। इसका अर्थ हुआ मन और बुद्धि भी हमारे व्यक्तित्व के परिवर्तनशील अंग हैं।

परन्तु इन सब परिवर्तनशील घटनाओं के मध्य एक नित्य तत्त्व है जो स्वयं अपरिवर्तनशील है एवं इन सभी परिवर्तनशील घटनाओं का अनुभव करता है, उनका द्रष्टा है।

हमारा अनुभव हमें बताता है कि संसार की किसी भी अनित्य वस्तु की उपलब्धि ने हमें विजय की परिपूर्ण संतुष्टी नहीं दी है। जैसे ही हम किसी इच्छित परिवर्तनशील वस्तु पर विजय पाते हैं, वह अपना आकर्षण खो बैठती है। तब इस पूर्वप्राप्त वस्तु की तुलना में कुछ अधिक मूल्यवान एवं स्थायी वस्तु की प्राप्ति का विचार हमारे मन में उठता है।

हम देख चुके हैं, हमारे व्यक्तित्व के दो भाग हैं - एक परिवर्तनशील और दूसरा अपरिवर्तनशील। आइए, कुछ समय के लिए हम व्यक्ति के अपरिवर्तनशील भाग में विजय-प्राप्ति की ओर ध्यान दें, किन्तु इस बात का स्मरण रखें कि व्यक्तित्व के परिवर्तनशील भाग में प्राप्त विजय हमें इस बात का स्मरण कराये कि अंतिम विजय केवल व्यक्तित्व के परिवर्तनशील भाग में प्राप्त विजय से नहीं मिलेगी। जीवन के परिवर्तनशील भाग में प्राप्त विजय हमारे जीवन यात्रा के मील के पत्थर हैं, जिन्हें हमें पीछे छोड़ कर आगे बढ़ना होगा और

व्यक्तित्व के अपरिवर्तनशील भाग को प्राप्त करना होगा। हमारे वास्तविक विजय का दिन वह होगा जिस दिन हम अपने व्यक्ति के अपरिवर्तनशील भाग पर विजय प्राप्त कर लेंगे, उसका अनुभव कर लेंगे, उसमें स्थैर्य प्राप्त कर लेंगे।

यह परिवर्तनशील घटना संसार कहलाती है। हम सब इस परिवर्तनशील संसार में रहने के लिए बाध्य हैं। इस अनित्य संसार में रहना ही अपने आप में अविराम संघर्ष है। विषमताओं और कठिनाईयों के विरुद्ध – जो कि हमें दबाना एवं पराजित करना चाहती हैं – अविराम युद्ध ही जीवन है। साथ ही हमें अत्यन्त जागरुक एवं सावधान रहना होगा कि पराजय को हम संघर्ष का अंत न मानें। हमें पराजय को कभी अपने संघर्ष के परिणाम रूप में नहीं लेना चाहिए, अपितु अपने व्यक्तित्व के परिवर्तनशील भाग की समस्त क्षुद्रताओं को लांघ कर उस परम विजय के लिये संघर्ष करते हुए अग्रसर होना चाहिए। यही वास्तविक विजय है।

अमरत्व प्राप्ति

प्रत्येक मनुष्य अमर होने की इच्छा रखता है। मरना कोई भी नहीं चाहता। हम इस बात को जाने अथवा न जानें, हम जीवन से प्रेम करते हैं, हम अनन्त काल तक जीना चाहते हैं। किन्तु प्रतिदिन हम कहीं-न-कहीं किसी की मृत्यु से उपजा विरोधाभास भी देखते हैं। वह हमें स्मरण दिलाता है कि हमें भी किसी-न-किसी दिन कहीं-न-कहीं मरना पड़ेगा।

बहुधा हम जीवन की इस अटल घटना - मृत्यु को भूलने का प्रयास करते हैं। किन्तु संसार की घटनाएँ एव परिस्थितियाँ बलपूर्वक हमें बारम्बार इस बात का स्मरण कराती हैं कि मृत्यु है, और वह हम सब की प्रतीक्षा कर रही है। आइये इस पर विचार करें, क्या मृत्यु को भूलना हमें सार्थक एवं सानन्द जीवन जीने में सहायक होगा? जीवन के हमारे अनुभव यह बताते हैं कि मृत्यु का विस्मरण हमें जीवन के प्रति और अधिक लापरवाह एवं गैर-जिम्मेदार बनाता है। मृत्यु का स्मरण कम-से-कम हमें अनेक अवांछित एवं हानिकारक बातों को करने से भय अथवा बलपूर्वक रोकता है, जिन्हें हम अन्यथा मूर्खता एवं असावधानी का आश्रय ले, मृत्यु के विस्मरण के कारण कर रहे होते। हम पाते हैं कि मृत्यु का स्मरण बहुत सी अवांछनीय बातों से हमें रोकने में सहायक है।

क्या मृत्यु को टाला जा सकता है?

एक मौलिक प्रश्न जो मानव-मन में आदि काल से उठा करता है, वह है, "क्या मृत्यु का अतिक्रमण कर पाना सम्भव है?" "क्या मृत्यु जीवन की नियति है?" "यदि ऐसा हो तब जीवन का क्या प्रयोजन है?" "यदि मृत्यु से सब नष्ट होने ही वाला हो तो कितना ही उच्च और महत आदर्शयुक्त जीवन क्यों न हो, जीने का क्या अर्थ है?"

हिन्दूशास्त्र इस बात का उद्घोष करते हैं कि मृत्यु जीवन का अन्त नहीं है। वास्तव में मनुष्य अमर है। जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्र को त्याग कर नया वस्त्र धारण करता है, ठीक उसी प्रकार वह एक जीर्ण देह को त्याग कर अपने अमृत स्वरूप का अनुभव करने के लिए नवीन देह धारण करता है।

मृत्यु पर विजय

हमारे संत महात्मा हमें बताते हैं कि अज्ञान के कारण हमने स्वयं को मरणधर्मा मान रखा है और यह समझते हैं कि मृत्यु जीवन का अंत कर देती है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं - "अर्जुन इस मर्त्य शरीर में एक अमर्त्य तत्त्व है। सभी विजयों का यही उद्देश्य है कि इस बात का अनुभव किया जाय अथवा मृत्यु पर विजय प्राप्त कर ली जाय।" मृत्यु पर विजय से हमारा क्या अभिप्राय है? क्या इसका यह अर्थ है कि हम इसी शरीर में सदैव बने रहेंगे?

"नहीं", यह बेतुकी बात है! मृत्यु पर विजय का अर्थ है इस बात को जानना और अनुभव करना कि मैं अमर आत्मा हूँ - जो कि मेरा स्वरूप है - उसके लिए मृत्यु जैसी कोई वस्तु नहीं है। मृत्यु मेरे स्वरूप तक पहुँच नहीं सकती, अथवा उसका स्पर्श नहीं कर सकती। मृत्यु का अधिकार-क्षेत्र भौतिक शरीर तक ही सीमित है। यहाँ तक कि मृत्यु हमारे मन का भी स्पर्श नहीं कर सकती जिसे शास्त्रों में सूक्ष्म शरीर कहा गया है। किन्तु यह सूक्ष्म शरीर भी अमर नहीं है। भौतिक शरीर की तुलना में सूक्ष्म शरीर का जीवन-काल बहुत अधिक लम्बा है। किन्तु जिस दिन मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप की अनुभूति कर लेता है उस दिन सूक्ष्म शरीर भी समाप्त हो जाता है। केवल तभी मनुष्य मृत्युंजय होता है एवं अमरता को प्राप्त करता है। अतः मृत्यु पर विजय का अर्थ हुआ, इस बात की अनुभूति कि मेरे वास्तविक स्वरूप की मृत्यु सम्भव नहीं है, अतः उसका जन्म भी असम्भव है। क्योंकि जिस वस्तु का जन्म होता है, उसकी मृत्यु भी अवश्यमेव होती है। उसका अंत निश्चित है भले ही वह कल हो अथवा परसों या फिर हजारों वर्षों बाद।

यद्यपि मार्ग लम्बा है तथापि हमने देखा कि अंतिम विजय का अर्थ है – "मृत्यु पर विजय"। मृत्यु पर विजय-प्राप्ति की यह प्रक्रिया सुदीर्घ एवं चरणबद्ध है। अचानक ही किसी सुबह हम यह नहीं कह सकते कि हमने मृत्यु पर विजय प्राप्त कर ली है। मृत्यु पर विजय का आशय है - अपनी अमर आत्मा की अनुभूति। ❖ (क्रमशः) ❖

वेदान्त-बोधक कथाएँ (२)

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी विश्वाश्रयानन्द जी ने वेदान्त के गूढ़-गहन तत्त्वो को अभिव्यक्त करनेवाली कुछ कथाओं को बँगला में लिखकर 'गल्पे वेदान्त' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित कराया था। बाद में स्वामी अमरानन्द जी ने उसका आंग्ल रूपान्तरण किया। दोनों ही पुस्तकें काफी लोकप्रिय हुई हैं। उन्हीं कथाओं का हिन्दी अनुवाद हम धारावाहिक रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं.)

दो अद्‌भुत शिक्षक

प्राचीन काल में बहुत-से ऋषि-मुनि जंगलों में रहा करते थे। मीलों तक फैले एक घोर घने वन में कौशिक मुनि का निवास था। कौशिक का जन्म एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था, परन्तु वे अपना घर-बार त्यागकर इस तपोवन में रहते और सारे दिन वेदों का अध्ययन-मनन किया करते थे। वे कठोर तपस्या का जीवन बिताते और केवल भिक्षा माँगने ही आसपास के गाँवों में जाया करते।

एक बार वे एक वृक्ष के नीचे बैठे-बैठे वैदिक मंत्रों का पारायण कर रहे थे। उसी की एक ऊपरी डाल पर एक सफेद बगुला भी बैठा हुआ था। उस छोटे-से पक्षी को भला कौशिक मुनि की महिमा का कहाँ बोध था! उसने सहज भाव से मल-त्याग किया और उसका बीट आकर सीधे मुनि के सिर पर गिरा। इस अपमान पर कौशिक मुनि लाल-पीले हो उठे। उन्होंने आँखें तरेर कर उस बगुले की ओर देखा। तत्काल ही उस पक्षी के शरीर में आग लग गयी और वह जलकर भस्म हो गया।

कौशिक के मन में बड़ा आनन्द हुआ। उन्हें जीवन में पहली बार अनुभव हुआ था कि तपस्या के फलस्वरूप उनमें कुछ अलौकिक शक्तियों का विकास हुआ है। इस कारण उन्हें स्वयं पर बड़ा अभिमान भी हुआ।

कुछ दिनों बाद कौशिक भिक्षा पाने के लिए अपनी कुटीर से बाहर निकले और चलते-चलते दूर के एक गाँव में जा पहुँचे। भारतवासी साधु-सन्तों को भिक्षा देना बड़े पुण्य का कार्य मानते हैं। कौशिक एक मकान के द्वार पर पहुँचे। द्वार पर खड़ी महिला उन्हें ठहरने को कहकर भीतर चली गयी। तभी उसके थके-मादे पति घर लौटे। निष्ठावान पत्नी होने के कारण वह हाथ में पंखा लेकर अपने क्लान्त पति को हवा करने लगी और इसके बाद उनके लिए भोजन भी परोसा। सहसा उसे द्वार पर प्रतीक्षा कर रहे मुनि की याद आयी। वह अपनी इस विस्मृति पर बड़ी लज्जित हुई और उन्हें देने को हाथ में कुछ खाद्य-सामग्री लिए वह पुनः द्वार पर आयी।

इस दौरान मुनि उस महिला का सारा क्रिया-कलाप देख रहे थे। वे वहाँ खड़े-खड़े बड़े कुपित हो रहे थे। महिला के आते ही वे आग उगलते हुए दहाड़ उठे, "एक साधारण-सी महिला होकर तेरी यह मजाल, जो तूने एक ब्राह्मण को इतनी देर खड़े रखकर उसका अपमान किया!" उस महिला ने शान्त भाव से उत्तर दिया, "मैं अपने पति को सर्वोच्च देवता मानती हूँ। वे थके-मादे और भूखे काम से लौटे हैं, इसलिए मुझे पहले उनकी सेवा में लग जाना पड़ा। मुझे बड़ा खेद है कि आपको इतनी देर प्रतीक्षा करनी पड़ी। कृपया मुझे क्षमा करें।" मुनि चिल्ला उठे, "मुझे ज्यादा सफाई न दे। तू भला क्या जाने कि मैं अलौकिक शक्तियोंवाला एक ब्राह्मण तपस्वी हूँ, इसीलिए तूने मेरा अपमान करने का दु:साहस किया है।"

महिला ने दृढ़ता के साथ उत्तर दिया, "महाराज, थोड़ा शान्त होइये। मैं कोई छोटी-सी चिड़िया नहीं हूँ, जो आपकी कोपदृष्टि से जलकर भस्म हो जाऊँगी। आपको इतना उत्तेजित नहीं होना चाहिये। क्या आपके शास्त्रों में नहीं लिखा है कि क्रोध साधक-जीवन की एक महान् बाधा है?" इस उत्तर ने कौशिक मुनि के क्रोधाग्नि में घी का काम किया। इससे उनके अहंभाव को चोट लगी और उनका चेहरा तमतमा उठा।

परन्तु तत्काल ही उन्होंने स्वयं को सम्हाल लिया और सोचने लगे, "अरे, यह क्या! इसे उस बगुले वाली घटना का कैसे पता चला? उस समय तो घने जंगल के बीच दूसरा कोई भी न था!"

परन्तु उस महिला के पास केवल अलौकिक क्षमता ही नहीं, साथ में दयाभाव भी था। वह बोली, "महाराज, मैं

आपके विभिन्न क्रिया-काण्डों को तो नहीं समझती, परन्तु मैं पूरी निष्ठा के साथ अपने कर्तव्यों का पालन करती हूँ और इसी को मैं अपना धर्म या तपस्या मानती हूँ। मेरे पतिदेव ही मेरे सर्वोच्च देवता हैं और उनकी सेवा ही मेरा सर्वोच्च धर्म है। मुझे लगता है कि अपने इस दृष्टिकोण के फलस्वरूप ही मेरी आध्यात्मिक उन्नति हो रही है। और जैसा कि आप देख रहे हैं, जंगल में न जाने के बावजूद मुझमें कुछ अलौकिक सिद्धियाँ प्रकट हुई हैं। मैं पहले से ही जानती थी कि एक निरीह पक्षी आपके क्रोध का शिकार हो चुका है। परन्तु लगता है कि आपको अभी तक धर्म की मूलभूत बातें भी समझ में नहीं आ सकी हैं, इसीलिये तो आप एक पक्षी को मारकर बड़े गर्व का अनुभव कर रहे हैं।''

वह कहती रही, ''सुनिये महाराज, मेरी बात मानिये तो मिथिला पुरी चले जाइये। वहाँ धर्म-व्याध नामक एक व्यक्ति रहता है। उसे धर्म के सूक्ष्म तत्त्वों का ज्ञान है। वह जितेन्द्रिय है, सत्यवादी है और अपने माता-पिता की सेवा करता है। कृपया आप वहाँ जायें और विनयपूर्वक उससे तत्त्व की बातें जान लें। आपका जीवन धन्य हो जायेगा।''

कौशिक मुनि ने उस महिला की सलाह सुनी और उससे भिक्षा लेकर वापस वन में स्थित अपनी कुटिया में लौटे। अब तक वे जितने भी लोगों से मिले थे, उनमें यह महिला ही सबसे अद्भुत व्यक्ति थी और उसकी बातों ने उन्हें गहरे चिन्तन करने को मजबूर कर दिया। पर एक समस्या थी और वह यह कि 'धर्म-व्याध' ब्राह्मण का नाम नहीं प्रतीत हो रहा था और ब्राह्मण ज्ञान के लिए सामान्यत: किसी अन्य जाति के व्यक्ति के पास नहीं जाता ! उन्हें यह पूरा विचार ही थोड़ा अव्यावहारिक लगा। पर वह महिला कितनी विवेकवान थी ! कौशिक को लगा कि उसकी सलाह मानकर चलना ही उनके लिए हितकर होगा। कुछ दिनों में उन्होंने जाने का निश्चय कर लिया और मिथिला की सुदीर्घ यात्रा पर निकल पड़े।

कौशिक ने अनेक छोटे-बड़े राज्यों को पार किया। अनेक नदियों, खेतों, पहाड़ों, कुटीरों, वनों, नगरों से होकर गुजरे। रास्ते भर भिक्षाटन करते हुए उन्होंने अपनी यह लम्बी यात्रा सम्पन्न की। कई सप्ताह के बाद वे मिथिला आ पहुँचे थे।

वह नगरी अत्यन्त सुन्दर थी। सड़कें चौड़ी तथा स्वच्छ बनी थीं। मकान, जलाशय तथा उद्यान आदि सब सुव्यवस्थित रूप से निर्मित थे। वहाँ के निवासी सम्पन्न, प्रसन्न तथा स्वस्थ दिख रहे थे। कौशिक को पता चला कि महाराजा जनक के चुस्त-दुरुस्त प्रशासन के कारण ही मिथिला एक आदर्श नगरी के रूप में प्रसिद्ध थी। नगरी का अवलोकन करके कौशिक को बड़ा आनन्द हुआ। इसके बाद वे उस व्यक्ति के बारे में पूछताछ करने लगे, जिनसे मिलने वे इतनी दूर से चलकर आये थे। लोगों ने उन्हें कसाई की एक छोटी-सी दुकान की ओर भेजा।

कौशिक उस दुकान से थोड़ी दूरी पर खड़े होकर सोचने लगे – ''यह कहाँ आ पहुँचा मैं !'' पर 'धर्म-व्याध के बारे में पूछने पर हर किसी ने उसी दुकान की ओर इंगित किया था। कौशिक ने सोचा – ठीक है, धर्म-व्याध शायद इस दुकान में खरीदारी करने को आये होंगे। दुकान में काफी भीड़ थी और लगता था कि वही वहाँ की सबसे लोकप्रिय दुकान है। परन्तु तभी सहसा कौशिक की समझ में आ गया कि कसाई के धार्मिक व्यक्ति होने के कारण ही उसकी दुकान में इतनी भीड़ है और वह व्यक्ति स्वयं धर्म-व्याध ही है।

इस बीच धर्म-व्याध को कौशिक के आगमन की बात ज्ञात हो गयी थी। उसने उठकर मुनि का स्वागत किया और बोला, ''महाराज, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ?'' मुझे पता है कि वहाँ की उस पतिव्रता स्त्री ने ही आपको इतनी दूर भेजा है और यह भी जानता हूँ कि क्यों भेजा है।'' कौशिक उसकी बात सुनकर भौचक्के रह गये और ये बातें योग की सिद्धियों के बिना नहीं जानी जा सकती थीं। वे इस बात पर भी मुग्ध हुए कि यह व्यक्ति ऐसा ज्ञानी होकर भी इतने भद्र तथा विनम्र आचरण वाला है।

व्याध के आमंत्रण पर कौशिक उसके घर गये। वहाँ उनकी अच्छी आवभगत हुई और उन्होंने अपने मेजबान के साथ खुलकर चर्चाएँ कीं। कौशिक बोले, ''आजीविका के लिए आपका यह मांस-विक्रय का कार्य मुझे पसन्द नहीं

आया। आपके जैसे धर्मात्मा को ऐसा निकृष्ट कार्य शोभा नहीं देता। बल्कि इसे देखकर मुझे तो घृणा ही होती है।''

व्याध ने कहा, ''मेरी आजीविका तो जातिगत है। मेरे पूर्वज भी मांस ही बेचा करते थे। आप इस पर नाराज क्यों हैं। मैं तो हमेशा शास्त्रों का निर्देश मानकर चलता हूँ। मैं पूरे दिल से अपने माता-पिता तथा बड़ों की सेवा करता हूँ। मैं सत्यवादी हूँ और किसी के प्रति द्वेषभाव नहीं रखता। मैं अपनी आय का एक बड़ा भाग जनहित के लिए खर्च करता हूँ। मैं अतिथियों की यथासाध्य सेवा करता हूँ। पूजा सम्पन्न हो जाने के बाद घर के सभी लोग – बड़े-बूढ़े, अतिथि और नौकर आदि भोजन करते हैं। और इन सबके खाने के बाद जो बच जाता है, मैं उसी को ग्रहण करता हूँ। इस सेवा को ही मैं अपना धर्म तथा कर्तव्य समझता हूँ और इसी को मैं यथासाध्य निष्ठा के साथ पूरा करने का प्रयास करता हूँ।

''और इन सबके लिए धन की भी जरूरत पड़ती है। मांस बेचना मेरा जातिगत कार्य है। अब आप ही बताइये कि क्या मैं सचमुच ही कोई गलत या अनैतिक कार्य कर रहा हूँ? मैं स्वयं तो मांस नहीं खाता और न पशुओं की हत्या ही करता हूँ। मैं शिकारियों से मांस खरीदता हूँ और अपनी दुकान में रखकर बेचता हूँ।''

कौशिक ने धर्मव्याध को जो हीन समझा था, उसके लिए उन्होंने खेद व्यक्त किया। उन्हें समझ में आ गया था कि वे एक सन्त के सान्निध्य में हैं। क्रमशः धर्मव्याध के साथ उनकी चर्चा धर्म के उच्चतर तत्त्वों की ओर मुड़ी। व्याध के शब्दों में अनुभूति की प्रतिध्वनि थी, ''आत्मा का ज्ञान सर्वोच्च ज्ञान है। सच्चाई सर्वोच्च व्रत है। जो सबके लिए हितकर हो, वही सत्य है। सत्य ही श्रेयलाभ का एकमात्र उपाय है। इन्द्रियों का निग्रह सर्वोच्च तपस्या है। आत्मा अमर है, शरीर अनित्य है और मृत्यु के समय केवल शरीर का ही विनाश होता है।''

अपने उदार मेजबान के इन महान् शब्दों को सुनकर उनके चरित्र के बारे में कौशिक की धारणा पलट चुकी थी। वे यह भी समझ गये कि धर्मव्याध को यह उपलब्धि शास्त्रीय ज्ञान से नहीं, बल्कि उत्तम आचरण से हुई है। वे सम्मानपूर्वक हाथ जोड़कर धर्मव्याध से बोले, ''धर्म के विषय में आपको कुछ भी अज्ञात नहीं है। आपकी बातें सुनकर मुझे लग रहा है कि आप एक महर्षि हैं। आपने एक मांस-विक्रेता का रूप बनाये रखते हुए भी ज्ञानलाभ कर लिया है।''

तब धर्मव्याध ने कौशिक को कर्म का रहस्य अर्थात् यह समझाया कि किस प्रकार उचित दृष्टिकोण के साथ अपने कर्तव्य सम्पन्न करने चाहिए। वे बोले, ''मैंने अपने जागतिक कर्तव्यों को पूरा करते हुए ज्ञानप्राप्ति की है। आप भी अपने घर लौट जायँ और वहीं रहकर एक आध्यात्मिक जीवन बिताएँ। माता-पिता की अनुमति लिए बिना घर छोड़कर आपने उचित नहीं किया। लौटकर उन्हें सन्तुष्ट कीजिये। मुझे लगता है कि इसी से आपका कल्याण होगा।''

कौशिक ने उत्तर दिया, ''उस पतिव्रता महिला ने आपकी महिमा बतायी थी। उस समय तो मुझे उस पर सन्देह हुआ था, परन्तु आपकी बातों से मेरे संशय दूर हो गये हैं। मैं निष्ठापूर्वक आपकी सलाह के अनुसार ही चलूँगा।''

धर्मव्याध से विदाई लेकर कौशिक घर लौट गये। और इस प्रकार एक कसाई के उपदेशों पर चलकर एक ब्राह्मण ने ज्ञान की प्राप्ति की।

स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे कि मनुष्य की ईश्वर-भाव से सेवा करनी चाहिए। सभी को ईश्वर समझना थोड़ा कठिन है। पहले हमें अपने अपने सगे-सम्बन्धियों या परिवार के कम-से-कम एक व्यक्ति की इस भाव से सेवा करनी चाहिए और उसके बाद क्रमशः पूरे समुदाय तथा पूरे देश को ही अपना परिवार बना लेना चाहिए। वे अमेरिका में अपने श्रोताओं को महाभारत की यह कथा सुनाते और कहते, ''कोई भी ऐसा कर्म नहीं है, जो ईश्वर की ओर न ले जाता हो। उपलब्धि की बात उस अन्तिम साधन पर – आत्मा की उसके लिए पिपासा पर निर्भर करती है।''

❖ (क्रमशः) ❖

पुरखों की थाती

एकस्य कर्म संवीक्ष्य करोत्यन्योऽपि गर्हितम्।
गतानुगतिकं लोका न लोकास्तत्त्वदर्शिनः ।।

– एक को गलत कार्य करते देखकर दूसरा भी उसी की नकल करता है। सामान्य लोग ज्ञानी नहीं होते, वे भेड़ों के समान दूसरों का अन्धानुकरण करते हैं।

उदारस्य तृणं वित्तं शूरस्य मरणं तृणम्।
विरक्तस्य तृणं भार्या निःस्पृहस्य तृणं जगत् ।।

– उदार व्यक्ति के लिए धन-सम्पदा तिनके के समान तुच्छ है, शूर-वीर के लिए मृत्यु तुच्छ है, वैराग्यवान् के लिए नारी तुच्छ है और कामनाहीन व्यक्ति के लिए यह सारा संसार ही तृणवत् तुच्छ है।

एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत्।
पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यद्दत्वा त्वनृणी भवेत् ।।

– गुरुदेव अपने शिष्य को जो एक अक्षर प्रदान करते हैं, पृथ्वी पर का कोई भी धन नहीं है, जिसे देकर व्यक्ति उससे उऋण हो सके।

हिन्दू धर्म की रूपरेखा (१४)

स्वामी निर्वेदानन्द

(प्राचीन काल में वैदिक या सनातन धर्म और वर्तमान में हिन्दू धर्म के रूप में प्रचलित धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है और विश्व के अन्य धर्मों से इसमें क्या समानता व भेद है, इसे समझ पाना हिन्दुओं के लिए भी अति आवश्यक है। विद्वान् लेखक ने अपने बँगला तथा अंग्रेजी ग्रन्थ में इस धर्म के मूल तत्त्वों का बड़ा ही सहज निरूपण किया है। उसका हिन्दी अनुवाद क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

द्वितीय भाग

धर्मप्रवर्तक तथा धर्मशास्त्र

हिन्दू धर्म के कुछ प्रधान विषयों पर चर्चा कर लेने के बाद अब हमें इसका काफी कुछ परिचय मिल चुका है। संसार तथा मुक्ति से आरम्भ करके धर्म-साधना की प्रथम सीढ़ी प्रवृत्ति-मार्ग और अन्तिम सीढ़ी निवृत्ति-मार्ग तक के विषयों के बारे में हमें कुछ-कुछ धारणा हो चुकी है। निवृत्ति-मार्ग की चर्चा करते समय राजयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा कर्मयोग – इन चार पृथक्-पृथक् साधना-पथों की जानकारी भी हमें मिल चुकी है। वैसे इन विषयों पर अब बड़े संक्षेप में ही चर्चा की गयी है।

अस्तु अब हम हिन्दू धर्म के सम्पूर्ण स्वरूप पर दृष्टिपात् करने का प्रयास करेंगे। जिन मूल लक्षणों में हिन्दू धर्म का वैशिष्ट्य निहित है, उनका परिचय पा लेने से ही इस धर्म का समग्र रूप प्रस्फुटित हो उठेगा।

हम देखते हैं कि प्रत्येक धर्म के मूल में एक तत्त्वदर्शी धर्म-प्रवर्तक महापुरुष और कम-से-कम एक अनुभूति-परक ग्रन्थ विद्यमान होता है। प्रत्येक धर्म का एक अन्य सामान्य लक्षण यह है कि उसके उपदेशों के मर्मस्थल में अध्यात्म-तत्त्व और उसके बाह्य स्तर में पौराणिक आख्यान तथा आनुष्ठानिक विधान रहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन पाँच प्रधान अंगों को मिलाकर प्रत्येक धर्म निर्मित हुआ है – धर्म-प्रवर्तक महापुरुष, धर्मशास्त्र, आध्यात्मिक तत्त्व, आनुष्ठानिक विधान और पुराण-कथा। अतः हिन्दू धर्म के प्रसंग में भी, उसके इन पाँच प्रधान अंगों के विषय में तथ्य एकत्र कर लेने से ही इसके समग्र रूप को जाना जा सकेगा।

धर्म-प्रवर्तक

किसी भी विशेष व्यक्ति ने हिन्दू धर्म की स्थापना नहीं की है। आध्यात्मिक तत्त्वों के आविष्कारक वैदिक ऋषियों में से बहुतों ने अपना नाम तक छोड़ जाने की आवश्यकता महसूस नहीं की। और जिनके नाम मिलते हैं, उन्हें धर्म-प्रवर्तक नहीं कहा जा सकता। हिन्दू लोग 'वेद' नामक चिरन्तन अध्यात्म-तत्त्वों को उनके आविष्कारक ऋषियों की अपेक्षा कहीं अधिक सम्माननीय मानते हैं।

तथापि हिन्दुओं का विश्वास है कि जगत् में जब-जब धर्म का क्षय होता है और अधर्म का प्रसार होता है, तब-तब सज्जनों की रक्षा तथा दुष्टों के नियमन हेतु भगवान स्वयं ही देह धारण करके पृथ्वी पर अवतार लेते हैं।[१]

वैदिक धर्म की एक मूल शिक्षा यह है कि ईश्वर प्रत्येक जीव में, वस्तुतः प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान हैं। परन्तु उनकी अनिर्वचनीय माया-शक्ति के प्रभाव से जीव का स्वरूपगत दिव्यत्व का बोध प्रच्छन्न रहता है, अज्ञान के मोटे परदे से ढँका रहता है। प्रत्येक जीव को अपने प्रयास से अज्ञान के इस आवरण को धीरे-धीरे हटा लेना पड़ता है। वस्तुतः निम्न स्तर के जीव जो उच्च स्तर के जीवों में विकसित होते हैं, उसके पीछे भी अज्ञात रूप से यही प्रेरणा कार्य करती है। मनुष्य के स्तर पर यह प्रयास चेतनापूर्वक होता है। मनुष्य संकल्प करके अपने भीतर छिपे ईश्वर को प्रकट करने का व्रत लेता है। यही उसका धर्म है।

परन्तु मनुष्य बीच-बीच में अपने इस आध्यात्मिक लक्ष्य को भूल जाता है। कभी-कभी तो वह इतना मोहग्रस्त हो जाता है कि वह अपने अन्तर में स्थित ईश्वर को एक कल्पना कहकर हँसी में उड़ा देता है। वह विश्वास ही नहीं कर पाता कि काम, लोभ, घृणा, द्वेष, दम्भ तथा निर्लज्ज स्वार्थपरता आदि नीच वृत्तियों के चंगुल से वह कभी मुक्त हो सकेगा। और अपने देवत्व का प्राकट्य तो उसे कोरा स्वप्न ही प्रतीत होता है। इस प्रकार मनुष्य जब धर्म के मूल तत्त्व को खोकर केवल बाह्य आचार तथा मतवाद की रूढ़ियों को लेकर व्यस्त रहता है, तब धर्म एक हास्यास्पद प्रहसन में परिणत हो जाता है। तब व्यक्ति धर्म की दुहाई देते हुए गलत तथा गर्हित कार्य करने में भी नहीं हिचकिचाता। इस प्रकार जब मानव-समाज का ईश्वरत्व की ओर विकास में बाधा आती है, तब मनुष्य के इस आध्यात्मिक अभियान को बाधामुक्त करने के लिये भगवान स्वयं ही मानव-समाज में अवतीर्ण होते हैं। तब मनुष्य अपने जीवनादर्श की पूर्ण आकृति उनके जीवन में स्पष्ट रूप से देख पाता है। उसे सहज ही धारणा हो जाती है कि अपने अन्तर्निहित देवत्व का पूर्ण विकास हो जाने पर मनुष्य का कैसा रूपान्तरण हो जाता है। उनके उपदेश से बहुत दिनों से एकत्र शंकाओं का निवारण हो जाता है और मानव-जाति को उनके जीवन में एक ऐसा तेजोमय, सजीव,

उज्ज्वल आदर्श मिल जाता है, जिसके अनुसरण से मनुष्य अपनी आध्यात्मिक उन्नति सम्पन्न कर सकता है। मनुष्य को तब ईश्वर की ओर अग्रसर होने के लिए एक नई प्रेरणा मिल जाती है। इस प्रकार अवतार के प्रभाव से धर्म को एक नया जीवन प्राप्त होता है और मानव-जाति पुन: एक नवीन उत्साह के साथ 'दिव्यत्व की प्राप्ति' रूपी अपने चरम लक्ष्य की ओर अभियान आरम्भ कर देता है।

हिन्दुओं का विश्वास है कि इसी प्रकार मानव-समाज को परम कल्याण के पथ पर चलाने के लिए ईश्वर बारम्बार अवतीर्ण होते हैं। हिन्दुओं का 'अवतार' शब्द बड़ा सार्थक है। 'अव' उपसर्ग का अर्थ है – नीचे और 'तृ' धातु का अर्थ है – पार होना। इसीलिए जब परमात्मा नरलोक में उतरकर देह धारण करके आविर्भूत होते हैं, तब उन्हें 'अवतार' कहा जाता है। परब्रह्म मानो अपने तुरीय स्वरूप तथा स्वयं की ही अभिव्यक्ति विश्व-रूप के बीच की सीमा-रेखा को पार करके उतर आते हैं। जीवों के समान अवतार की चेतना कभी भी अज्ञान से आवृत्त नहीं रहती। अबाध आत्मज्ञान में प्रतिष्ठित रहकर वे अपनी माया-शक्ति को अपने वश में रखकर विश्व के स्वामी मानो अपनी ईश्वरीय इच्छा की पूर्ति के लिए जन्म लेते हैं। अवतार जिस ऊर्ध्व भूमि से नीचे उतरते हैं, मनुष्य को अपनी निम्न भूमि से ऊपर उठकर उसी दिव्यत्व में स्थित होना पड़ता है।

पुराणों में असंख्य अवतारों की कथाएँ हैं।[२] 'दुर्गा-सप्तशती' में देवलोक में भी होनेवाले अनेक अवतारों की कथाएँ हैं। पुराणों में वर्णित मर्त्यलोक के ये दस अवतार प्रसिद्ध हैं – मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, रामचन्द्र, बलराम, बुद्ध और कल्कि। परन्तु सहज ही समझा जा सकता है कि यह तालिका अधूरी है, क्योंकि इसमें श्रीकृष्ण का नाम नहीं है। भविष्य में भी भगवान अनेक रूपों में अवतीर्ण हो सकते हैं। उनका यह अवतरण किसी देश या काल द्वारा सीमाबद्ध नहीं हो सकता। समग्र मानव-समाज या उसके किसी भी हिस्से में जब-जब आध्यात्मिक प्रेरणा की आवश्यकता हुई है, तब-तब वहाँ अवतार का आविर्भाव हुआ है और भविष्य में भी ऐसा ही होता रहेगा। हिन्दुओं का विश्वास है कि इस प्रकार एक आध्यात्मिक नियम के अनुसार विभिन्न देशों तथा कालों में भगवान अवतीर्ण हुआ करते हैं। इसीलिए हिन्दुओं को बुद्ध और यहाँ तक कि ईसा तथा मुहम्मद के अवतारत्व को स्वीकार करने में भी कोई कठिनाई नहीं होती। ऐतिहासिक युग में भी भारतवर्ष में ऐसे अनेक लोकोत्तर चरित्र के देव-मानवों का आविर्भाव हुआ है, जिन्हें हिन्दू समाज ने अवतार के रूप में स्वीकार कर लिया है। इनमें बुद्ध, आदि शंकर तथा चैतन्य के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बहुत-से लोग हमारे युग के श्रीरामकृष्ण देव (१८६३-८६) की भी अवतार-बोध से पूजा करते हैं।

यहाँ दस अवतारों की प्रचलित तालिका के विषय में कुछ कहना आवश्यक है। इस तालिका में मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन आदि का उल्लेख देखकर बहुत-से लोग संकोच का अनुभव करते हैं। बहुत से युक्तिवादी इसके पीछे विकासवाद का एक अस्पष्ट संकेत देखते हैं। परन्तु हमें विकासवाद आदि को लेकर सिर खपाने की जरूरत नहीं। या फिर अवतारों की तालिका में मानवेतर जीवों का उल्लेख है, इसलिये भी हमें संकुचित होने की भी आवश्यकता नहीं। ईश्वर के बारे में हिन्दुओं की धारणा इतनी उदार है कि वह नि:संकोच भाव से मानवेतर मूर्ति में भी उनका आविर्भाव स्वीकार कर लेता है। जो स्वयं को विश्व के रूप में अभिव्यक्त कर सकते हैं, उनके लिए अपनी ईश्वरीय इच्छा के अनुसार कोई भी रूप धारण करना बिल्कुल भी असम्भव नहीं है। इसके अलावा, यह निर्णय करना भी बड़ा कठिन है कि मानवेतर रूपों में अवतार लेने की पौराणिक सूचना न जाने किस प्रागैतिहासिक युग की बात है। अत: पुराणों की इन बातों को सत्य मानकर उन्हें प्रमाणित करने या उन्हें निरर्थक कहकर उड़ा देने का प्रयास करना शक्ति का व्यर्थ अपव्यय है। हिन्दुओं का विश्वास है कि इन रूपों में अवतीर्ण होना ईश्वर के लिए बिल्कुल भी असम्भव नहीं है, और यही उनके लिए यथेष्ट है। अवतार का जीवन तथा कर्मधारा असाधारण हुआ करती है। बाह्य दृष्टि से वह साधारण-सी प्रतीत होने पर भी वे पूर्णत: असाधारण हुआ करते हैं। उनके जन्म तथा कर्म दिव्य होते हैं।[३] जिन्हें अवतार-विषयक इस तत्त्व की धारणा हो जाती है, उन्हें संसार से मुक्ति मिल जाता है।

कई बार अवतार की संगिनी के रूप में भगवान नारी-शरीर में भी अवतीर्ण होते हैं। हिन्दू लोग श्री रामचन्द्र की सहधर्मिणी सीता और श्री चैतन्य की पत्नी विष्णुप्रिया देवी को भी इसी प्रकार अवतार के रूप में स्वीकार करते हैं।

श्रीरामकृष्ण देव की सहधर्मिणी सारदा देवी की भी असंख्य भक्त अवतार के रूप में पूजा करते हैं।

फिर हिन्दू लोगों का यह भी विश्वास है कि अवतार के अतिरिक्त आचार्य के रूप में विख्यात आध्यात्मिक शक्ति-सम्पन्न एक अन्य श्रेणी के महामानव भी बीच-बीच में इस पृथ्वी पर आते हैं। शास्त्रों के वास्तविक मर्म को प्रकट करने तथा मनुष्य-समाज को धर्म के पथ पर अग्रसर कराने के लिए युग-युग में इस आचार्य-श्रेणी के महापुरुषों का आविर्भाव होता है। ऊर्ध्वलोक के निवासी मुक्तपुरुष ही इस प्रकार आया करते हैं। कभी-कभी वे अवतार की ईश्वरीय इच्छा की पूर्ति के यंत्र के रूप में उनके सहचर बनकर आते हैं। कभी-कभी वे ईश्वर तथा मानव-जीवन के आध्यात्मिक उद्देश्य के विषय में सनातन सत्य का सन्देश प्रचारित करने के लिए देवदूत के रूप में एकाकी भी आते हैं। हिन्दू समाज में आचार्यों के विषय में ऐसी धारणा भी प्रचलित है कि भगवान की अनन्त विभूतियों में से कोई एक मानो आचार्य के रूप में आविर्भूत होती है। अस्तु। उनके आध्यात्मिक जीवन तथा उपदेश अवतार के समान ही असाधारण होते हैं। इस श्रेणी के आचार्य के चरित्र में ऐसे आध्यात्मिक ऐश्वर्यों का प्राकट्य होता है कि उनके साथ अवतारों का भेद समझना कठिन हो जाता है। आचार्य शंकर और रामानुज अवतार-पुरुष थे या आचार्य-श्रेणी के महापुरुष थे – इसका निर्णय करना मानवीय बुद्धि के लिए बड़ा ही दु:साध्य है। बहुतों का विश्वास है कि वर्तमान युग के स्वामी विवेकानन्द भी ऐसे ही आचार्य श्रेणी के नवीनतम महापुरुष हैं।

सारांश के रूप में कहा जा सकता है कि हिन्दू धर्म किसी विशेष महापुरुष को अपने संस्थापक के रूप में स्वीकार नहीं करता, तथापि हिन्दू शास्त्रों में अवतार या अवतार-तुल्य महापुरुषों के आविर्भाव तथा जीवन के उद्देश्य के बारे में सुस्पष्ट तथा विस्तृत विवरण प्राप्त होते हैं।

धर्म-शास्त्र

पूर्वोल्लेखित धर्म के प्रधान अंगों में द्वितीय है शास्त्र। इसके पूर्व एक अध्याय[४] में इस पर चर्चा हो चुकी है। तथापि वर्तमान प्रसंग में हिन्दू शास्त्रों के विशिष्ट लक्षण पुनः उल्लेख-योग्य हैं।

हिन्दुओं के धर्मग्रन्थों को शास्त्र करते हैं। इस शब्द के व्युत्पत्तिगत अर्थ से ही हिन्दुओं के दृष्टिकोण का ज्ञान हो जाता है। 'शास्त्र' शब्द शासन अर्थवाले 'शास्' धातु से निष्पन्न हुआ है; अत: इसका अर्थ है – 'जिसके द्वारा लोग शासित होते हैं।' हिन्दू शास्त्रों से तात्पर्य – कुछ आप्त वाक्य मात्र नहीं हैं, जिन पर विश्वास करना आवश्यक हो; या फिर मन्दिरों में अनुष्ठान करने योग्य कुछ कर्मकाण्डों का विधान मात्र भी नहीं हैं। मनुष्य के समग्र जीवन को नियमित करके उसे पूर्णता की ओर अग्रसर कराना ही हिन्दुओं के मतानुसार शास्त्र का उद्देश्य है।

हिन्दू शास्त्रों में 'वेद' ही अग्रगण्य हैं। हिन्दू लोग वेद को केवल आप्त वाक्यों का संग्रह-मात्र नहीं मानते। चिरन्तर आध्यात्मिक सत्यों की समष्टि को ही वे लोग वेद कहते हैं। ये सत्य पूर्णत: अवैयक्तिक हैं। ऋषिगण अनुभूति के द्वारा इसी तरह के कुछ शाश्वत सत्यों की खोज कर गये हैं और वे ही लिपिबद्ध होकर वेद के नाम से प्रचलित हुए हैं। कहते हैं कि कोई भी आध्यात्मिक तत्त्व जब किसी भी देश में आविष्कृत हुआ है, तब वस्तुत: वेद का ही कोई अंश-विशेष प्रकट हुआ है; क्योंकि पारमार्थिक ज्ञान की समष्टि को ही वेद कहते हैं। अत: वेद का जो मुख्य तात्पर्य है, उसके अनुसार वह किसी सम्प्रदाय या जाति-विशेष की अपनी सम्पत्ति नहीं हो सकता। इस पर समग्र मानव-समाज का समान अधिकार है। इसके अतिरिक्त, इसकी प्रासंगिकता किसी विशेष युग तक ही सीमित नहीं है – यह नित्य है, शाश्वत है। इन सत्यों के कुछ अंश आविष्कृत हुए हैं; और सम्भव है भविष्य में उसके और भी अंशों का आविष्कार हो।

श्रुति, स्मृति, दर्शन, इतिहास, पुराण, तंत्र आदि के रूप में हिन्दू शास्त्रों की विविधता भी एक विचारणीय विषय है। सूक्ष्म आध्यात्मिक सत्यों को सबके लिए बोधगम्य बनाने हेतु उन्हें विभिन्न शास्त्रों में विभिन्न पद्धतियों से प्रस्तुत किया गया है। इसके सिवा, एक ही लक्ष्य तक पहुँचने के लिए विभिन्न श्रेणी के शास्त्रों से भिन्न-भिन्न मार्गों का भी पता मिलता है।

यहाँ स्मृति के विषय में भी दो-एक बातें कहना आवश्यक है। स्मृति व्यष्टि तथा समष्टिगत जीवन को नियमित करने का विधान देती है, इसलिए इसकी प्रासंगिकता तात्कालिक मात्र है। सामाजिक परिवेश में परिवर्तन के अनुसार ही स्मृति के विधानों में भी परिवर्तन हुआ करता है। जब भी ऐसी आवश्यकता उत्पन्न होती है, तब युगोपयोगी नवीन स्मृति की रचना करने के लिए किसी विशेष अधिकारी धर्मपरायण मनीषी का आविर्भाव होता है। स्मृति के परिवर्तनशील होने के बावजूद इसका विधान प्रत्येक युग में श्रुतियों में प्रकट मूल तत्त्वों का अविरोधी होना चाहिए।

हिन्दू शास्त्रों के विषय में जो कुछ कहा गया, वह इस ग्रन्थ के लिए यथेष्ट है। ◆ (क्रमश:) ◆

---

१. गीता, ४/७-८
२. देखिये – श्रीमद्भागवत और मार्कण्डेय-पुराणान्तर्गत 'दुर्गा-सप्तशती'
३. गीता, ४/९ ४. तृतीय अध्याय

आत्माराम की आत्मकथा (१७)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। डॉ. डी. भट्टाचार्य कृत इसके हिन्दी अनुवाद की पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमशः प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

जिस दिन वृन्दावन आया, उसी दिन मथुरा स्टेशन पर बाबू नारायणदास से मुलाकात हुई थी। वे वहाँ के एक रईस थे और उन दिनों प्रेम महाविद्यालय के सचिव तथा वृन्दावन नगरपालिका के अध्यक्ष थे। उनके आग्रह पर नित्य उनके घर जाकर भिक्षा कर आता था। इनके साथ अचानक इस प्रकार जान-पहचान हुई थी – एक वृद्धा बंगाली तीर्थयात्री मथुरा स्टेशन पर कुली के साथ भाड़े के बारे में तर्क-वितर्क करने में व्यस्त थीं। कुली उनका सामान दूसरे प्लेटफार्म से लाकर गाड़ी में चढ़ाने के लिए आठ आने मजदूरी माँग रहा था और वे दो आने दे रही थीं। मैं सब देख रहा था। वृद्धा को असहाय देखकर और गाड़ी का समय हो जाने पर भी उन्हें जिद न छोड़ते देखकर मैं उनकी सहायता करने गया। उनके बक्से को अपने सिर पर उठाकर बोला – "बूढ़ी माँ, चलिए, गाड़ी छूटने में अब ज्यादा देर नहीं है।" वे तो अवाक् रह गईं। बोलीं – "बाबा, तुम ...।" मैंने कहा – "चलिये, वह पोटली आप ले लीजिए, अब समय नहीं है।" बाबू नारायण दास हमारे पीछे ही आ रहे थे। वे किसी कार्यवश मथुरा आए थे। बँगला अच्छी जानते थे, इसीलिए और मेरे सिर पर बक्सा देखकर ही सब समझ गये। वे दौड़कर आये और बूढ़ी-माँ से कपड़े की पोटली लेकर कहा – "मैं भी आपकी थोड़ी सेवा कर लूँ।"

बस, यही हमारे परिचय का आरम्भ था। फिर दोनों एक ही डिब्बे में बैठकर – देश की दुरवस्था, शिक्षा-पद्धति में दोष, औद्योगिक शिक्षा की जरूरत, देशमाता की सेवा के लिए त्याग की आवश्यकता आदि विषयों पर गम्भीर चर्चा करते हुए वृन्दावन पहुँचे। स्टेशन पर उतरने के बाद उन्होंने पूछा – "कहाँ रहना ठीक किया है?" कहा – "कुछ दिन रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम में।" इस पर उन्होंने भारतमाता के परम सेवक वीर राजा महेन्द्रप्रताप की कीर्ति प्रेम महाविद्यालय को देखने का और जितने दिन भी वृन्दावन रहूँ, उन्हीं के यहाँ जाकर भिक्षा करने का निमंत्रण दिया।

सेवाश्रम में रहते हुए एक अप्रिय घटना का मैं कारण बना। नादू महाराज के स्नेही एक वृद्ध साधु 'गोविन्दानन्द' प्रतिदिन दोनों समय चाय पीने सेवाश्रम में आया करते थे। बूढ़े बाबा चाय के परम भक्त थे। मैं भी कुछ कम न था और अब भी कुछ कम नहीं हूँ। चाय की मेज सबके मिलने और 'चर्चा' का भी स्थान था। नित्य के सदस्यों में थे – स्वामी गोविन्दानन्द, नारायण तीर्थजी या कालिकानन्द जी, जो ब्रह्मचारी केशवानन्द के भूतपूर्व शिष्य थे, डॉक्टर महाराज और बाद में मैं। सुबह-शाम दोनों समय गप-शप होता, परन्तु नित्य शाम को चायपान के बाद आधे घण्टे कालिकानन्द जी महाभारत के शान्ति-पर्व से पाठ करते थे। आश्रम के सदस्यगण श्रोता होते। केवल यही एक अच्छी चीज थी। कालिकानन्द जी बड़े अच्छे साधु थे, दर्शन-शास्त्र पर अधिकार था, वेदान्त-न्याय तथा सांख्य के तीर्थ थे। वैराग्यवान, निरभिमान, जितेन्द्रिय, स्पष्ट वक्ता और बड़े विनयी थे। दूसरी ओर गोविन्दानन्द जी थे वृन्दावन के सूचना-केन्द्र। वहाँ की सभी कुत्सित घटनाओं की सूचना का वे उस चाय की मेज पर ही वर्णन करते। सात-आठ दिन मैं चुप रहा, उसके बाद नहीं रह सका। एक दिन शाम को वे बड़े रस के साथ किसी वैष्णव युवती के गर्भपात का इतिहास सुना रहे थे।

चाय का समय होने के कारण डॉक्टर महाराज, मैं और शास्त्र-चर्चा के निमित्त आये हुए कालिकानन्द जी भी वहाँ आये। मुझे देख बूढ़े बाबा कहने लगे – "ये लड़के लोग हैं, वह सब बातें बन्द कीजिए।"

परन्तु वे कहानी सुनाने में इतने मशगूल थे कि उन्होंने उस बात पर ध्यान नहीं दिया और अपनी कहानी जारी रखी। असह्य हो उठने पर मैं दृढ़ भाव से बोला – "महाराज! आप वृद्ध हैं और साधु हुए हैं, नित्य आकर ये सब क्या बातें किया करते हैं? सारे कुत्सित समाचार प्रतिदिन यहाँ लाते हैं। मेरी समझ में नहीं आता कि इससे आपको क्या लाभ होता है। मुझे यहाँ आये इतने दिन हो गये, लेकिन आपके मुख से कोई अच्छी बात नहीं सुनने को मिली। यह सेवाश्रम है, यहाँ साधु-संन्यासी सेवा-धर्म लेकर रहते हैं, उनके पास आकर आप जैसे वृद्ध लोगों को सत् चर्चा करनी चाहिए, अच्छी बातें करनी चाहिए जिससे सबका कल्याण हो। वह तो दूर, आप दोनों समय दुनिया भर की कुत्सित बातें सुनाने आते हैं। यद्यपि मैं आयु में छोटा हूँ और यहाँ का कर्मी भी नहीं हूँ, तो भी एक साधु तथा इनके एक गुरुभाई के नाते आज आपसे कहता हूँ कि आप जब भी यहाँ आयेंगे, तो यदि अच्छी बातें कह सकें तो कहेंगे, अन्यथा चुप रहेंगे।" (मैं

बड़ा उत्तेजित हो गया था।) गोविन्दानन्द जी भी बड़े क्रोध में कहने लगे – "कल का छोकरा, मुझे उपदेश देने चला है, जरा बोलो तो – तुम्हें साधु हुए कितने दिन हुए हैं? मैं पिछले १५ सालों से सेवाश्रम में आ रहा हूँ और किसी ने भी मुझे कहने का साहस नहीं किया! और नादू महाराज मुझे सेवाश्रम देखने को कह गये हैं। तुम मुझे धमकी देनेवाले कौन होते हो? और बूढ़े बाबा, आपने इसकी बात सुनी?"

मैं बोला – "साधु जितने दिन का भी होऊँ और आयु चाहे जो भी हो, सबके सामने आपसे कह रहा हूँ – यहाँ आकर वे सब बातें नहीं कर सकेंगे, किसी भी हालत में नहीं कर सकेंगे। नादू महाराज के समय जो भी करते थे, अब वैसा नहीं कर सकते। उनके लौटने पर मेरे नाम पर उन्हें रिपोर्ट कर देना।"

कालिकानन्द जी – "ये ठीक ही कह रहे हैं। मैंने भी कई बार सोचा था कि आपको ऐसी चर्चा करने को मना करूँगा, लेकिन मैं बाहर का आदमी हूँ, कोई अधिकार नहीं है – सोचकर चुप रहा। (बूढ़े बाबा के प्रति) सच कह रहा हूँ ग्राम्य चर्चा से हानि को छोड़ कोई लाभ नहीं है। आप भी वृद्ध हैं, आपको ऐसी कोई चर्चा न करने देना ही उचित है। आपकी क्या राय है, डॉक्टर महाराज?"

डॉक्टर महाराज अन्य कई कारणों से इन सब विषयों में पूर्णत: तटस्थ रहते थे, अत: चुप ही रहे। बूढ़े बाबा लज्जित और मौन रह गये। सभी लोग थोड़ी देर चुप रहे। गोविन्दानन्द जी क्रोध से अभिभूत हो गये थे और उनके लिए अपना मानसिक सन्तुलन बनाये रख पाना कठिन हो रहा था। मैं तपस्या करने के लिए आकर सेवाश्रम में ठहरा हूँ, शायद यही बात सहसा याद आ जाने से पूर्वापर कोई सम्बन्ध न रहने पर भी बड़ी दृढ़ता के साथ वे बोल उठे – "तपस्या हमने भी बहुत की है। इस विषय में मुझे तुमसे कुछ सीखने की आवश्यकता नहीं है। बड़े-बड़े महापुरुष देखे हैं, परमहंस देखे हैं, उनका उपदेश भी सुना है, वृथा जीवन नहीं बिताया है। दो दिन थोड़ा ध्यान-धारणा करके ही अहंकार में मत्त हो रहे हो। अहंकारी को ईश्वर-प्राप्ति नहीं होती। यही बात रामकृष्ण भी कह गये हैं। तपस्या क्या है? तीन दिन में भगवान लाभ किया जा सकता है उसके लिए ...।"

मैं आगे सहन करने में असमर्थ होकर बोल उठा – "तपस्या और महापुरुषों के दर्शन से जो फल हुआ, यदि वह यही है, जो आपमें दिख रहा है, तो माफ कीजियेगा वह विशेष उपयोगी नहीं प्रतीत होता। और जो आपने कहा कि तीन दिन में भगवान को पाया जा सकता है – ऐसा बहुत सुना है, करके दिखाइये तो जानूँ। मुझे इन सब बातों से बहलाया नहीं जा सकता।"

गोविन्दानन्द जी – "क्यों, रामकृष्ण ने नहीं किया?"

मैं – "रामकृष्ण ने किया, तो उससे आपको क्या? प्रश्न तो यह है कि आपने किया है क्या?"

डॉक्टर महाराज – "चलिए महाराज, संध्या हो गई है। क्यों कालिकानन्द जी, (हल्की सी हँसी के साथ) आज महाभारत यहीं तक रहेगा या आगे यथाविधि चलेगा?"

गोविन्दानन्द जी के सिवा हम सबने इस टिप्पणी की प्रशंसा की। परन्तु उस दिन शान्तिपर्व का पाठ नहीं हो सका, क्योंकि कालिकानन्द जी के पास समय नहीं था। उसके बाद से गोविन्दानन्द जी आना-जाना तो करते, परन्तु बेकार की चर्चा ज्यादा नहीं करते। हम लोगों के सामने तो करते ही नहीं थे और मुझे देखते ही मौनव्रत धारण कर लेते। डॉक्टर महाराज इस पर बड़े खुश हुए थे।

कालिकानन्द जी के बारे में एक घटना का उल्लेख किये बिना वृन्दावन की स्मृति अधूरी ही रह जायेगी। वह इस प्रकार है – बारह वर्ष या उससे भी अधिक काल से सेवाश्रम के घनिष्ठ सम्पर्क में आने के कारण रामकृष्ण मिशन के कई साधु-संन्यासियों के साथ उनका विशेष परिचय हुआ था, पर किसी अज्ञात कारणवश वे श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द को थोड़े संशय की दृष्टि से देखते थे और उनके लिए अवतार आदि शब्द सुनकर थोड़े-बहुत नाराज भी होते थे।

डॉक्टर महाराज उन दिनों उनसे विशेष रूप से कठोपनिषद् पढ़ रहे थे। मैं भी बीच-बीच में उनके साथ जाया करता था। समय मिलने पर कभी-कभी संध्या को हम दोनों कालिकानन्द जी के साथ धर्मचर्चा किया करते थे। एक दिन दोपहर या शाम को (मुझे तेज ज्वर चढ़ा था और एकादशी होने से उस दिन कालिकानन्द जी का उपवास भी था; ठीक किस विषय पर चर्चा शुरू हुई थी याद नहीं) हम दोनों तर्क-वितर्क में खूब उन्मत्त थे। वे शास्त्रों से दृष्टान्त-पर-दृष्टान्त दिये जा रहे थे और मैं अज्ञ था, अत: उनके उत्तर में श्रीरामकृष्ण तथा स्वामीजी की बातें कहे रहा था। मेरी बातों में सहज युक्ति और खूब गम्भीर विषयों की अति सरल मीमांसा देखकर वे आश्चर्यचकित होकर बोल उठे – "महाशय, ये सब बातें आप कहाँ से कह रहे हैं? एक ही बात में आपने कितने सुन्दर ढंग से सगुण तथा निर्गुण की मीमांसा कर डाली! यदि ये बातें आपकी अपनी हों ... !"

मैंने कहा – "जी नहीं, जितनी बातें मैंने कही हैं, वे सब रामकृष्ण-विवेकानन्द की हैं। क्यों, आपने क्या 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' और स्वामीजी के व्याख्यान नहीं पढ़े हैं?"

कालिकानन्द जी – "नहीं। किसी भी दिन ये सब पढ़ने की इच्छा नहीं हुई। इसका कारण आज आप लोगों को बताता हूँ। इतने दिनों से आप लोगों के संग में रहकर भी, इस धारणा के कारण कि आप लोग रामकृष्ण को अवतार बनाने की चेष्टा करते हैं, मैंने आप लोगों द्वारा प्रकाशित कोई

ग्रन्थ नहीं पढ़ा। आप से पूर्व जिन लोगों से भेंट हुई, वे कोई अन्य प्रमाण दिये बिना बीच-बीच में 'रामकृष्ण ऐसा कहते हैं', 'विवेकानन्द ऐसा कहते हैं' – ऐसे प्रमाणों की सहायता से शास्त्र-चर्चा किया करते हैं। अत: मेरे मन में वही धारणा और भी दृढ़ हो गई और आपके साथ इतने दिन से परिचय है, पर आपने किसी दिन चर्चा के समय उनके नाम का उल्लेख नहीं किया, इसीलिए आपसे चर्चा करने में मुझे बड़ा आनन्द आता है। मैंने कई बार आश्चर्यचकित होकर सोचा कि आप लोग किस प्रकार इतने गम्भीर विषयों की इतनी सरल और सुन्दर मीमांसा कर लेते हैं? मैंने ढेर सारे शास्त्र पढ़े हैं, पर मुझमें तो ऐसी शक्ति नहीं है अर्थात् यह सहज बात मैं अब तक नहीं जान पाया। आज आपका साँप का दृष्टान्त[१] और सांख्य-दर्शन के प्रकृति-पुरुष की बात – 'शादी के घर में मालिक और गृहिणी का दृष्टान्त'[२] देकर मीमांसा करने की चेष्टा ने मुझे मोहित किया था, इसलिए आपसे पूछे बिना नहीं रह सका। कितना मूर्ख हूँ मैं? रामकृष्ण-विवेकानन्द की बातें नहीं पढ़ी और इतने दिनों से आप लोगों के सम्पर्क में रहते हुए भी, ऐसी धारणा रखता था। अस्तु, अब बताइये कि सबसे पहले मैं कौन-सी पुस्तक पढ़ूँ।''

मैंने कहा – ''पहले आप स्वामीजी का 'ज्ञानयोग' पढ़िये। वेदान्त आपका प्रिय विषय हैं, अत: पहले यह देखिये कि उस विषय पर उन्होंने क्या लिखा है, फिर दूसरी पुस्तकें।''

वे तत्काल 'ज्ञानयोग' ग्रन्थ लेकर अपने आश्रम लौट गये। अगले दिन सुबह चाय पीने आये, तो उनके हाथ में 'ज्ञानयोग' था, डॉक्टर महाराज तथा मुझे देखते ही कह उठे – ''कितना सुन्दर है! कठिन वेदान्त को कितने सुन्दर और सरल तरीके से समझाया है! उनकी युक्ति की धारा कैसे जल के समान झर-झर बहती जाती है। षड्दर्शन तथा वेदान्त पर लिखे गये भाष्यों को पढ़ने के बाद भी मैं इस तरह नहीं समझ सका था। अहा! इनकी समझाने की 'शैली' कितनी सुन्दर है! मैं तो कल रात ही इस ग्रन्थ को पढ़ गया, छोड़ने की इच्छा ही नहीं हो रही थी। अब स्वामीजी की सारी पुस्तकें पढ़ने की इच्छा हो रही है, बताइए इसके बाद कौन-सी पढ़ूँ?''

मैंने कहा – ''उनका 'भारतीय व्याख्यान'। इसमें सभी प्रकार की बातें हैं।''

कालिकानन्द जी – ''अच्छा, तो फिर यदि हम दोनों मिलकर साथ पढ़ें, तो कैसा रहेगा? पहले थोड़ा मैं पढ़ूँगा, फिर थोड़ा आप।''

मैं – ''अच्छा है। प्रतिदिन सुबह चाय के बाद यहीं पर आधा घण्टा पढ़ेंगे।''

गोविन्दानन्द जी के साथ उक्त घटना होने के बाद ही ऐसा निर्णय लिया गया था, अत: यह सुनकर सभी बड़े खुश हुए कि अब व्यर्थ चर्चा की जगह स्वामीजी के ग्रन्थ पढ़े जायेंगे। केवल गोविन्दानन्द जी ने सुबह आना बन्द कर दिया।

बूढ़े बाबा के साथ एक अन्य भी अप्रिय घटना हुई थी, और वह इस प्रकार थी – पहले ही बता चुका हूँ कि जब मैं सेवाश्रम छोड़कर कालीय-दमन घाट के मन्दिर में रहता था, तो बाबू नारायण दास के मकान पर भिक्षा लेने जाता था। वे प्रति मास सेवाश्रम को कुछ चन्दा देते थे, न जाने किस कारण उन्होंने चन्दा कुछ कम कर दिया। चूँकि मैं उनके घर

१. साँप का दृष्टान्त – माया मानो चलता हुआ और ब्रह्म मानो स्थिर पड़ा साँप हैं। शक्ति की सक्रिय अवस्था माया है तथा निष्क्रिय अवस्था ब्रह्म। ... ब्रह्म भले-बुरे दोनों से निर्लिप्त है। ब्रह्म मानो साँप है। उसके दाँतों में विष है, मगर उस पर उसका असर नहीं होता; पर जब वह दूसरे को काटता है, तो उस पर विष चढ़ जाता है। वैसे ही भगवान की माया सबको मुग्ध कर लेती है, पर उन्हें नहीं कर पाती।

२. श्रीरामकृष्ण कहते हैं – ''सांख्य के मतानुसार पुरुष अकर्ता है, वह कुछ भी नहीं करता; प्रकृति ही सारे कार्य करती है। पुरुष उन कार्यों को साक्षी के रूप में देखता रहता है। प्रकृति भी पुरुष को छोड़कर अकेली कोई कार्य नहीं कर सकती। घर में विवाह के समय देखा नहीं! घर का मालिक तो काम-काज का हुक्म देकर स्वयं आराम से बैठकर हुक्का पीता है। पर गृहिणी कपड़े मे हल्दी के दाग लगाये घर भर में, इधर-उधर दौड़ती हुई देखती रहती है कि यह काम हुआ या नहीं, वह काम हो रहा है या नही; घर में जो लोग आते हैं उनका स्वागत-सत्कार करती है; और बीच-बीच में मालिक के पास आकर हाथ-मुँह हिलाते हुए सूचना देती जाती है – 'यह ऐसा हुआ, वह वैसा हुआ; यह करना है, वह नहीं होगा' – आदि। मालिक हुक्का पीते-पीते सब सुनता जाता है और सिर हिलाते हुए 'हूँ, हूँ' करके अपनी सम्मति देता जाता है। प्रकृति-पुरुष का काम भी ऐसा ही होता है।''

भिक्षा के लिये जाता था, बूढ़े बाबा को सन्देह हुआ कि मैंने सेवाश्रम की अव्यवस्था आदि के बारे में उनसे कुछ कहा होगा, (क्योंकि उस समय नादू महाराज के चले जाने, धन आदि के अभाव और कार्य विषयक अनुभव की कमी के कारण सेवाश्रम के कार्य की व्यवस्था बहुत सन्तोषजनक नहीं चल रही थी। इसके सिवा सेवाश्रम में रहते समय किसी विषय पर उन्हें कठोर सत्य कहने के लिए मुझे बाध्य भी होना पड़ा था।)

एक दिन वे मुझसे बोले – "भाई, तुमने बाबू नारायण दासजी से न जाने क्या कह दिया है कि वे सेवाश्रम की जो आर्थिक सहायता करते थे, उसे उन्होंने बिल्कुल घटा दिया है। मिशन के साधु के रूप में परिचय देकर उनके घर नित्य खाने जाते हो। महाराज को लिखने से वे जरूर मना करेंगे, क्योंकि इससे हमारी बदनामी हो रही है। और इस प्रकार सेवाश्रम की हानि होने से मैं भला कैसे चुप रह सकता हूँ?"

मैंने उत्तर दिया – "पहली बात तो यह कि सेवाश्रम के बारे में मेरी उनसे कोई बात नहीं हुई है। वे सेवाश्रम को चन्दा देते हैं, यह भी मुझे ज्ञात नहीं था, आज आपसे मालूम हुआ है। द्वितीयत: वे नहीं जानते हैं कि मेरा आप लोगों से कोई निकट सम्बन्ध भी है। मैं एक अज्ञात साधारण साधु के रूप में उनसे परिचित हूँ और वह परिचय भी सेवाश्रम में आने से पूर्व मथुरा स्टेशन पर हुआ था। उसी दिन उन्होंने निमंत्रण देते हुए कहा था कि जब तक मैं वृन्दावन में रहूँ, उन्हीं के घर भिक्षा करूँ। यदि आपको विश्वास न हो, तो उनसे पूछ सकते हैं कि मेरा उनके साथ किस प्रकार परिचय हुआ है? और क्या वे जानते हैं कि मैं इस संघ का संन्यासी हूँ? और यदि पूजनीय महाराज को इस बारे में कुछ लिखना चाहें, तो लिख सकते हैं। वे यदि कोई सफाई माँगेंगे, तो मैं दूँगा।" मेरे वृन्दावन रहते-रहते बूढ़े बाबा ने बाबू नारायण दास से कुछ भी पूछने का साहस नहीं किया था और मैं नहीं जानता कि उन्होंने पूजनीय महाराज को कुछ लिखा या नहीं।

जिस मन्दिर में मैं रहता था, वहाँ मच्छरों का इतना भयंकर प्रकोप था कि रात में क्षण भर भी सो नहीं पाता था। एक तो ग्रीष्म-काल और ऊपर से वृन्दावन की गर्मी ! शरीर को कपड़े से ढँकना तो दूर, कौपीन तक पहने रहना कष्टप्रद प्रतीत होता था। मच्छरों के काटने से पूरे शरीर में घाव हो गये थे, उनके जहर से शरीर पीला पड़ गया था और बुखार भी चढ़ने लगा था। तब मैंने नारायण दास बाबू से कहा कि अब वृन्दावन रहना सम्भव नहीं, अन्यत्र चले जाने की इच्छा हो रही है। मेरी शारीरिक अवस्था देखकर वे चौंक गये। बोले – "बोलिये, कहाँ जाने की इच्छा हो रही है? यदि मेरे द्वारा कुछ सम्भव हुआ, तो अवश्य करूँगा।" मैंने कहा –"गोदावरी के तट पर नासिक में।" सहसा नासिक की याद आ गयी थी, इसीलिए कह दिया। ठीक याद नहीं है, पर सम्भवत: उन्होंने मुझे नागदा तक का टिकट और हाथखर्च के लिए पाँच रुपये दिए थे। सभी से विदा लेकर पंचवटी नासिक की ओर चल पड़ा।

दो अन्य घटनाओं का उल्लेख करके वृन्दावन का प्रथम पर्व यहीं समाप्त होगा। (१) श्री गोविन्दजी के मन्दिर में आरती के समय एक परम वैष्णव नित्य कीर्तन करते और उन्हें तरह-तरह के भाव, समाधि और अन्तर्दशा तक हुआ करती थी। उसे देखने का बारम्बार आग्रह किये जाने पर, एक दिन संध्या को चटर्जी (जो गोविन्द जी के पुजारी के सम्बन्धी थे) और डॉक्टर महाराज के साथ उन्हें देखने गया। प्रतिदिन के समान ही उस दिन भी उनके अद्भुत भावावेश में नृत्य आदि देखने के लिए बहुत भीड़ एकत्र हुई थी। परन्तु देखकर मुझे तो लगा कि यह ढोंग है, सचमुच का नहीं है, बल्कि अभ्यास के द्वारा किया जा रहा है। चटर्जी और डॉक्टर महाराज के पूछने पर मैंने यही बात कह दी, परन्तु वे लोग मुझसे सहमत नहीं हुए। आठ-दस दिन बाद एक दोपहर को मथुरा की ओर यमुना-तट पर एक गुफा देखने जा रहा था। रास्ते के किनारे एक बगीचे के पास एक कुटिया में से घुँघरू की आवाज आ रही थी। बाड़ को पार करके अन्दर जाकर देखा – वही वैष्णव बाबाजी तरह-तरह की अंग-भंगिमा के साथ नृत्य का और आँखें उलटकर भावसमाधि का अभ्यास भी कर रहे हैं। सेवाश्रम निकट ही था, थोड़ी देर देखने के बाद दौड़कर वहाँ गया और चटर्जी तथा डॉक्टर महाराज को बुला लाया। उन्हें चुपके से वह सब दिखाया। प्रत्यक्ष देखने के बाद वे लोग समझ गये और मेरी धारणा की सत्यता स्वीकार की। चटर्जी ने मन्दिर के पुजारी को इस बात की सूचना दी, जिसके फलस्वरूप बाबाजी को भाव-प्रदर्शन करने से मना कर दिया गया।

(२) वृन्दावन पहुँचते ही देखा था कि वहाँ श्री ठाकुर को रोगियों की पालिश उखड़ी हुई एनामेल की थाली में बड़े-बड़े कीड़ोंवाले चावलों का अन्नभोग दिया जाता था। इस विषय में प्रारम्भ में ही बूढ़े बाबा के साथ कहा-सुनी हो गई। वे बोले – "रुपये-पैसे नहीं हैं, इसीलिए किसी प्रकार ऐसे ही चला रहा हूँ।" मैंने पूज्यपाद राजा महाराज को पत्र लिखकर सब बताया। उन्होंने तार देकर उस प्रकार भोग देना बन्द कराया और पत्र के द्वारा मिश्री, बताशे के साथ जल का भोग देने का आदेश दिया। खाने के लिए उन्होंने अच्छा चावल-दाल लाने का आदेश भी दिया। मैं पहले दिन से ही कीड़ोंवाला चावल नहीं खा सका था। बूढ़े बाबा तथा डॉक्टर महाराज ने खाया। मैंने सेवाश्रम की एक नौकरानी को भेजकर सेठजी के मन्दिर से दो आने की खीर मँगाकर खायी; डॉक्टर महाराज को भी दिया। फिर जब तक अच्छे दाल-चावल की व्यवस्था नहीं हो गई, तब तक वे प्रतिदिन ही पैसे देकर खीर मँगवाते। ❖ (क्रमश:) ❖

– प्रबुद्ध भारत के प्रति –

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी की प्रेरणा से श्री राजम अय्यर के सम्पादन में जुलाई १८९६ ई. से मद्रास से 'प्रबुद्ध भारत' नामक एक पत्रिका प्रकाशित हो रही थी। दो वर्ष के भीतर ही सम्पादक का मात्र २६ वर्ष की आयु में ही निधन हो जाने पर पत्रिका बन्द हो गयी। बाद में उसे अल्मोड़ा से दुबारा शुरू किया गया। उसके पहले अंक के लिए स्वामीजी ने यह कविता लिखी थी। अनुवाद स्वामी विदेहात्मानन्द ने किया है। – सं.)

तू जाग जाग फिर एक बार !
वह मृत्यु नहीं बस निद्रा थी,
संचारित करने नवजीवन,
मिट जाये तेरी नयन-क्लान्ति,
नव प्राणों का हो स्पन्दन।

अब भी निहारते पथ तेरा,
उत्सुकता से दुनिया के जन।
है अमर सत्य तू चिर उदार ।।
तू जाग जाग फिर एक बार ।।

चल दे फिर से पर ध्यान रहे,
रखना ऐसे निज कदमों को,
पथ पर नीचे बिखरे रज की भी,
शान्ति भंग ना उससे हो।

तू सुदृढ़ सबल आगे ही बढ़,
निर्भीक-मुक्त-आनन्दमगन।
निज वाणी से जागरणदूत !
उपजा सब प्राणों में सिहरन ।।

अब छूट चुका वह गृह तेरा,
जिसमें तुझको अति स्नेह मिला,
लालित-पालित हो प्रियजन में,
तू विकसित होकर खूब खिला।

पर यही भाग्य की नीयति है,
यह विश्व नियम के अन्तर्गत,
सब दृश्य-अदृश्य वहीं फिरता,
जो जहाँ कहीं से हो आगत।

फिर से लेने नव शक्तिसार ।।
तू जाग जाग फिर एक बार ।।

अब तुझको पुनः निकलना है,
निज जन्मभूमि की माटी से,
हिम से आच्छादित शिखर यहाँ,
बरसाते तुझ पर आशीषें।

देते हैं तुझको शक्तिदान,
कर्मों से कर विस्मित जग को।
सुर सरिताएँ पहनाती हैं,
संगीत मधुर तव वाणी को।

चिर शान्ति दे रहे हैं तुझको,
वन के छायामय देवदार ।।
तू जाग जाग फिर एक बार ।।

सर्वोपरि यहाँ विराजित हैं,
कोमल पवित्र हिमशैल-सुता,
जो शक्ति और जीवन बनकर,
बसती हैं सबमें जगदम्बा।

अद्वैत तत्त्व से चला रहीं,
जो कर्म सभी जग के अशेष,
जिनकी करुणा से मुक्तिद्वार,
खुल जाता दिखता वस्तु एक ।।

दें तुझको वे निज शक्ति परम,
जो कहलाता है अमित प्यार ।।
तू जाग जाग फिर एक बार ।।

ऋषि-मुनि-गण का आशीष महत्,
तेरे शुभ मस्तक के ऊपर,
ना देश काल का दावा है,
मानवता के उन पितरों पर।

था जिन्हें सत्य अनुभूत परम,
बाँटा था भले-बुरे सबको,
तू उनका ही चिर सेवक है,
है जान चुका तू सत्यों को।

बस 'एक' वही, अब तज विचार।
तू जाग जाग फिर एक बार ।।

अब बोल वत्स हे प्रेमरूप !
अपना प्रशान्त औ' कोमल स्वर।
तू देख कहाँ ओझल होते,
सपने निज ही तह तह खुलकर।

बस केवल सत्य बचा रहता,
उज्ज्वल निज महिमा में अपार ।।
तू जाग जाग फिर एक बार ।।

घोषित कर दे इस दुनिया में –
जागो, उठकर छोड़ो सपने।
यह स्वप्नलोक है कर्म यहाँ,
गूँथा करता माले अपने।

मीठे-जहरीले भावों के
पुष्पों से, जो जड़-तन्तु हीन।
खिलते रहते जो निराधार,
पर सत्य उन्हें करता विलीन ।।

तू साहसपूर्वक झेल इसे,
वह सत्य नित्य तुझसे अभिन्न।
छाया के मिथ्याभास सभी,
होंगे पल भर में छिन्न-भिन्न।

यदि स्वप्न-जगत् में तू चाहे,
प्रतिपल विचरण करते रहना।
चिर प्रेम और निष्काम कर्म
के ही सपने देखा करना ।।

❑❑❑

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(अनेक वर्षों पूर्व विद्वान् लेखक ने 'विवेक-ज्योति' के लिए प्रेरक-प्रसंगों की एक शृंखला लिखी थी, जो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित होकर बड़ी लोकप्रिय हुई। अनेक वर्षों के अन्तराल के बाद उन्होंने अब उसी परम्परा में और भी प्रसंगों का लेखन प्रारम्भ किया है। – सं.)

(२३) वाणी है अनमोल

एक बार राजा भोज को एक महामंत्री नियुक्त करना था। उन्होंने मुनादी पिटावाई कि पद के इच्छुक अगले दिन दरबार में पधारें। महामंत्री-पद का मोह भला किसे नहीं होता? साक्षात्कार हेतु दरबार में बड़ी संख्या में लोग आये। राजा ने उन सबसे तीन प्रश्न पूछे – (१) संसार में सबसे महान् कौन है? (२) वह रहता कहाँ है? और (३) वह करता क्या है?

प्रश्न इतने आसान न थे, तो भी हर एक ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार उनके उत्तर दिये। किसी ने ईश्वर को सबसे महान् बताया; तो किसी ने सूर्य और चन्द्रमा को; किसी ने पृथ्वी को बताया, तो किसी ने राजा और पहाड़ को; किसी ने मन को, तो किसी ने भूख को सबसे महान् बताया। परन्तु राजा इन उत्तरों से सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने दुखी अन्त:करण से कहा – "बड़े आश्चर्य की बात है कि महामंत्री तो हर कोई बनना चाहता है, परन्तु आप लोगों में वह बुद्धिमत्ता नहीं है, जो आवश्यक है। क्या मैं यह समझूँ कि इस धारा नगरी में विद्वानों का अकाल पड़ गया है, जो मेरे पहले प्रश्न का ही उत्तर देने में कोई सक्षम नहीं हैं?"

इस पर एक युवक बोला – "महाराज ! जहाँ के राजा तथा मंत्रीगण विद्वान् और कला-निपुण हैं, वहाँ बुद्धिमानों का अकाल कैसे होगा? आप पुन: मुनादी करवाइये, शायद कल कोई सुयोग्य व्यक्ति मिल जाय।" राजा ने पूछा – "क्या तुम स्वयं उत्तर नहीं दे सकते? क्या तुममें विद्वत्ता की कमी है?"

युवक ने उत्तर दिया – "महाराज, आयु और बुद्धि में स्वयं से बड़े लोगों की उपस्थिति देखकर मुझे इतना साहस नहीं हुआ कि मैं इतने बड़े पद के लिए स्वयं को प्रस्तुत करूँ। पर यदि आप मेरी योग्यता की परख करना चाहते हैं, तो मैं आपके सभी प्रश्नों का उत्तर देने को तैयार हूँ।"

राजा ने कहा – "ठीक है, तुम्हीं मेरे तीन प्रश्नों का जवाब दो। मेरे प्रश्न है – (१) संसार में सबसे महान् कौन है? (२) वह रहता कहाँ है? और (३) वह करता क्या है?

युवक बोला – "पहले प्रश्न का उत्तर है – वाणी, दूसरे का है – वह सदाचारी और वीर पुरुषों की जिह्वा में वास करती है तथा तीसरे का है – वह ऐसे काम कर सकती है, जिसे करने में सूरमा भी स्वयं को असमर्थ पाते हैं। वाणी पल भर में जहाँ मित्र बनाती है, वहाँ पल भर में दुश्मन भी बनाती है। दूसरों को प्रफुल्लित या दुखी करना वाणी पर ही निर्भर करता है। इस तरह की वाणी से महान् और मूल्यवान दूसरा कोई नहीं हो सकता।" राजा भोज इन उत्तरों से सन्तुष्ट हुए और उन्होंने उसी युवक को महामंत्री पद पर नियुक्त कर लिया।

(२४) शास्त्र के साथ शस्त्र भी आवश्यक है

गुरु द्रोणाचार्य अत्यन्त धर्मपरायण थे। वेदों और शास्त्रों की सूक्तियों को उन्होंने आत्मसात् कर लिया था और साथ ही कर्मकाण्ड, उपासना तथा ज्ञान के रहस्यों को भी हृदयंगम कर लिया था। वे केवल शास्त्रों में ही नहीं, अपितु शस्त्रविद्या में भी प्रवीण थे। शस्त्र-विद्या सिखाने हेतु वे एक विद्यालय भी चलाते थे, जिसमें प्रवेश लेकर शस्त्रविद्या में निपुणता पाने हेतु दूर-दूर से राजकुमार तथा ब्राह्मण कुमार आते थे।

एक दिन धौम्य ऋषि द्रोणाचार्य के आश्रम में आये। आचार्य को शस्त्र-चालन सिखाते देख उन्हें आश्चर्य हुआ। वे बोले – "क्षमा करें गुरुदेव ! मेरे मन में एक शंका उठी है। यदि आप उसका समाधान करें, तो उचित होगा।" आचार्य ने कहा – "अपनी शंका को निश्चिन्त होकर बताइये, मुनिवर।"

धौम्य ऋषि ने प्रश्न किया – "महाराज, आप जैसे धर्माचार्य को चाहिए कि वे शिष्यों को सत्य, दया, निर्लोभिता एवं सहिष्णुता की शिक्षा दें, परन्तु आप तो अस्त्र-शस्त्रों की शिक्षा देकर अप्रत्यक्ष रूप से रक्तपात का पाठ पढ़ाते हैं। क्या यह बात आपके ध्यान में नहीं आई?"

आचार्य ने उत्तर दिया, "आप ठीक कहते हैं कि शिष्यों को सदाचारी बनाने के लिए उन्हें सत्य, दया आदि का अमृत-पान कराकर लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि षड्रिपुओं तथा तत्त्वों से बचने की शिक्षा देनी चाहिए। परन्तु सज्जनों को ही इस प्रकार का सत्परामर्श दिया जा सकता है।

"व्यक्ति के जीवन में विषम तथा प्रतिकूल परिस्थियाँ भी आती हैं। दया दिखाकर सर्पों, बिच्छुओं, भेड़ियों जैसे दुष्ट प्रवृत्तिवाले लोगों से अपनी रक्षा नहीं की जा सकती। उन पर धर्म-शिक्षा का कोई प्रभाव नहीं होता। उनका तो मुँह कुचल देना ही एकमेव उचित मार्ग होता है और ऐसा करने के लिए स्वयं में वह शक्ति होनी चाहिए। ऐसी शक्ति प्राप्त करने के लिए शस्त्र-संचालन में कुशलता भी आवश्यक है।" आचार्य के इस उत्तर से धौम्य ऋषि का शंका-निवारण हो गया। ❑
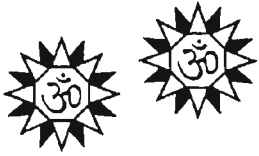
मेरी स्मृतियों में विवेकानन्द (४)
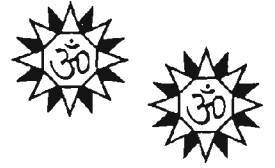
भगिनी क्रिस्टिन

(जो लोग महापुरुषों के काल में जन्म लेते हैं और उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आते हैं, वे धन्य और कृतकृत्य हो जाते हैं। भगिनी क्रिस्टिन भी एक ऐसी ही अमेरिकन महिला थीं। स्वामीजी-विषयक उनकी अविस्मरणीय स्मृतियाँ आंग्ल मासिक 'प्रबुद्ध-भारत' के १९३१ के जनवरी से दिसम्बर तक, फिर १९४५ के स्वर्ण-जयन्ती विशेषांक तथा १९७८ के मार्च अंकों में प्रकाशित हुई थीं। बाद में वे 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ में संकलित हुई, वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्द ने। – सं.)

सहस्रद्वीपोद्यान में शिक्षादान

हम सभी अपनी इन कक्षाओं में उपस्थित रहते। हिन्दुओं के लिए ये शिक्षाएँ सुपरिचित होंगी, तथापि वे जिस तेज, जिस अधिकार और जिस अनुभूति के साथ दी जा रही थीं, उससे वे पूर्णतया कुछ नवीन प्रतीत हो रही थीं। वे भी 'अधिकार-प्राप्त व्यक्ति' के रूप में बोले। हम पाश्चात्य लोगों के लिए यह सब नया था और ऐसा लगा मानो कोई आशा, आनन्द तथा जीवन का सुसमाचार लिये दिव्य लोक से आया हो। धर्म विश्वास की नहीं, अनुभूति की वस्तु है। सम्भव है कि किसी व्यक्ति ने किसी देश के बारे में पढ़ रखा हो, परन्तु उसे प्रत्यक्ष देखे बिना उसके बारे में सच्ची धारणा नहीं हो सकती। सब कुछ भीतर ही विद्यमान है। जिस दिव्य तत्त्व को हम स्वर्ग में, अवतारों में और मन्दिरों में ढूँढ़ रहे हैं, वह अपने भीतर ही स्थित है। भीतर होने के कारण ही हम इसे बाहर भी देख रहे हैं। वह कौन-सा साधन है, जिसके द्वारा हम उसकी अनुभूति कर सकते हैं, जिसके द्वारा हम ईश्वर का दर्शन कर सकते हैं? **एकाग्रता ही वह दीप है, जो अन्धकार में रौशनी फैलाता है।**

विभिन्न स्तरों तक पहुँचे लोगों के लिए विभिन्न प्रकार के मार्ग हैं और सभी ईश्वर तक ले जाते हैं। गुरु हमें उसी मार्ग पर चलायेंगे, जो हमारी उन्नति के लिए सर्वाधिक उपयुक्त होगा। और हम न केवल अपनी युक्ति के अनुसार चल सकते हैं, बल्कि हमें वैसा ही करना होगा – यह सुनकर हमें कितनी दिलासा मिली! इसके पहले ऐसा लगता था कि युक्ति तथा सहज-बोध सामान्यत: एक-दूसरे के विरोधी हैं। पर अब हमें बताया जा रहा था कि जब तक हमें कुछ और ऊँची उपलब्धि नहीं हो जाती, तब तक हम युक्ति को ही पकड़े रहें और वह ऊँची उपलब्धि भी निश्चय ही युक्ति की विरोधी न हो।

पहले दिन सुबह हमें बताया गया कि हमारी सामान्य चेतना से उच्च स्तर की भी एक चेतना है, जिसे समाधि कहते हैं। चेतन (conscious) और अचेतन (un-conscious) नामक चेतना के जिन दो स्तरों से हम परिचित हैं, उसकी जगह इसे और भी युक्तिसंगत बनाने के लिए उसका अवचेतन (sub-conscious), चेतन (conscious) तथा अतिचेतन (super-conscious) के रूप में वर्गीकरण करना होगा। पाश्चात्य चिन्तन में तभी उलझन पैदा होती है, जब चेतना को चेतन (conscious) और अचेतन (un-conscious) या अवचेतन (sub-conscious) के रूप में विभाजन करते हैं। इसमें मन की केवल सामान्य प्रकृति को ही स्वीकार किया गया है और यह भूला दिया गया है कि चेतन के परे एक अन्य – अतिचेतन या प्रेरणा का भी स्तर है। हम कैसे कह सकते हैं कि यह एक उच्चतर अवस्था है? स्वामीजी के अपने शब्दों में – "व्यक्ति एक अवस्था में जाता है और मूर्ख-जैसा ही वापस लौट आता है; और दूसरी अवस्था में वह मनुष्य के रूप में प्रवेश करता है और देवता के रूप में बाहर आता है।"
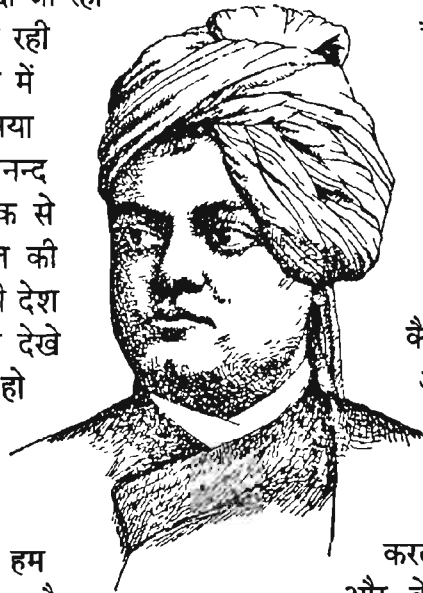
और वे सर्वदा कहते – "स्मरण रहे अतिचेतन (समाधि) कभी युक्ति का विरोधी नहीं होता। वह इसके परे जाता है, परन्तु कभी उसका विरोधी नहीं होता। श्रद्धा का अर्थ केवल विश्वास करना मात्र नहीं, बल्कि परम तत्त्व को अपनी मुट्ठी में ले आना – अनुभूति-सम्पन्न हो जाना है।

सत्य सबके लिए और सबके कल्याण के लिए है। यह गोपनीय नहीं, पवित्र है। इसके सोपान हैं – श्रवण – पहले सुनना, फिर मनन – उस पर विचार करना, "इसके ऊपर चिन्तन की बाढ़ आ जाय और तब उस पर ध्यान करो, उस पर अपने मन को एकाग्र करो, स्वयं को उसके साथ एकात्म कर लो।" **मौन रहकर शक्ति-संचय करो और आध्यात्मिकता के 'डायनेमो' बन जाओ।** एक भिखारी भला क्या दे सकता है? केवल एक राजा ही दे सकता है और वह भी तभी दे सकता है, जब वह स्वयं के लिए कुछ भी न चाहे।

"भगवान के खजांची के रूप में ही अपने धन की देखभाल करो। उसके लिये जरा भी आसक्ति मत रखो। नाम-यश और धन को विदा हो जाने दो, ये सब भयंकर बन्धन-स्वरूप हैं। स्वाधीनता के अद्भुत परिवेश का अनुभव करो। तुम मुक्त हो,

मुक्त हो, मुक्त हो ! निरन्तर कहते रहो – अहा, मैं धन्य हूँ ! मुक्त-स्वरूप हूँ ! अनन्त-स्वरूप हूँ ! मुझे अपनी आत्मा का कोई आदि-अन्त नहीं मिलता। सभी मेरे आत्म-स्वरूप हैं।''

उन्होंने हमें बताया कि ईश्वर सत्य हैं, एक ऐसे सत्य, जिनका किसी भी अन्य वस्तु के समान स्पष्ट रूप से अनुभव किया जा सकता है। ऐसी कुछ पद्धतियाँ हैं, जिनके द्वारा ये अनुभूतियाँ प्राप्त की जा सकती हैं, जो प्रयोगशाला की पद्धति के समान ही सत्यापन के योग्य हैं। इसके प्रयोग में मन ही यंत्र है। प्रागैतिहासिक काल से ही ऋषि, योगी तथा सन्तों ने इस आत्मविज्ञान के क्षेत्र में खोजें की हैं। वे लोग अपना यह ज्ञान, न केवल अपने तात्कालिक शिष्यों, अपितु भविष्य के सभी सत्य-शोधकों के लिए भी एक अमूल्य विरासत के रूप में छोड़ गये। यह ज्ञान सर्वप्रथम गुरु द्वारा शिष्य में संचरित होता है, परन्तु एक ऐसी पद्धति से, जो सामान्य शिक्षकों द्वारा अपनायी जानेवाली पद्धति से बिल्कुल भिन्न होता है। हम पाश्चात्य लोग धर्मशिक्षा की जिस पद्धति से परिचित हैं, उसमें हमें प्रयोगों के निष्कर्ष उसी प्रकार बता दिये जाते हैं, जिस प्रकार एक बच्चे को गणित के किसी सवाल के साथ ही उसका उत्तर भी दे दिया जाता है, परन्तु यह नहीं बताया जाता कि उस निष्कर्ष तक पहुँचा कैसे गया। हमें बताया गया है कि ये निष्कर्ष विश्व के महानतम आध्यात्मिक विभूतियों – बुद्ध, ईसा, जरथुस्त्र या लाओत्से द्वारा प्राप्त किये गये हैं और हमें उनके महान् प्रयोगों के निष्कर्षों को स्वीकार करके उनमें विश्वास रखना चाहिए। यदि हममें यथेष्ट श्रद्धा-भक्ति है, और यदि हम उस अवस्था में उन्नीत हो चुके हैं, जहाँ हमें बोध हो चुका है कि युक्ति के परे भी कुछ सत्य होगा, तब तो हम उसे आँखें मूँदकर स्वीकार कर लेंगे और उसमें विश्वास भी रख सकेंगे, परन्तु इसके बावजूद इसमें हमारा रूपान्तरण करने की कोई क्षमता नहीं होती। यह विश्वास मनुष्य को ईश्वर में परिणत नहीं करता। परन्तु अब हमें बताया गया कि एक ऐसी पद्धति भी है, जिसके द्वारा यह फल प्राप्त किया जा सकता है और यह पद्धति भारत से कभी लुप्त नहीं हुई – गुरु-शिष्य परम्परा के माध्यम से आज भी जीवित है।

यहाँ हमें पहली बार समझ में आया कि क्यों सभी धर्म नीति तथा सदाचार से ही आरम्भ होते हैं। क्योंकि सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अचौर्य, पवित्रता, तपस्या के बिना आध्यात्मिकता की कल्पना तक नहीं की जा सकती। हम पाश्चात्य लोगों में से बहुतों के लिए नैतिकता और धर्म प्राय: समानार्थी ही होते हैं। वहाँ हमें केवल इसी (नैतिकता) एक ठोस चीज का अभ्यास करना सिखाया जाता है और प्राय: उसी में इसकी इतिश्री हो जाती है। हम लोग उस युवक के समान थे, जिसने ईसा के पास जाकर पूछा था – ''अनन्त जीवन की उपलब्धि के लिए मुझे क्या करना होगा?'' ईसा बोले – ''तुमने पैगम्बरों के उपदेश पढ़े हैं – हत्या मत करो, चोरी मत करो, व्याभिचार मत करो।'' युवक बोला – ''प्रभो, इन सबका तो मैं बचपन से ही पालन करता रहा हूँ।'' हम लोग भी अब योग, समाधि तथा अन्य रहस्यों के बारे में सुनना चाहते थे। परन्तु जिन चीजों (नैतिक आदर्शों) से हम चिर-परिचित थे, उन्हीं पर स्वामीजी का जोर देना हमारे लिये आश्चर्यजनक था। परन्तु शीघ्र ही हमें पता चल गया कि दोनों में काफी भेद हैं, क्योंकि यहाँ उन्हें अकल्पनीय सीमा तक ले जाया गया था।

यहाँ आदर्श था मन-वाणी तथा कर्म से **सत्य-पालन**। यदि बारह वर्षों तक इसका अभ्यास किया जा सके, तो साधक के मुख से निकला हुआ हर वाक्य सत्य हो जायेगा। यदि कोई इस प्रकार पूर्णता को प्राप्त हुआ हो और वह किसी को कह दे, ''तुम नीरोग हो जाओ।'' तो वह तत्काल नीरोग हो जायेगा। यदि कहे – तुम्हारा कल्याण हो, तो उसका कल्याण होगा; यदि कहे – तुम मुक्त हो जाओ, तो वह मुक्त हो जायेगा। उन्होंने ऐसे लोगों की कथा भी बतायी, जिनमें यह शक्ति थी और जो एक बार कुछ कह देने के बाद स्वयं भी उसे सत्य होने से रोक नहीं सकते थे। श्रीरामकृष्ण के पिता में यह शक्ति थी। क्या इसी कारण उनको ऐसा पुत्र हुआ था? फिर स्वयं श्रीरामकृष्ण के जीवन में भी ऐसा ही होता था। एक बार उन्होंने एक युवक से कहा, ''सोमवार को फिर आना।'' वह बोला, ''सोमवार को मुझे कुछ काम है, उस दिन मैं नहीं आ सकूँगा, क्या मैं मंगलवार को आऊँ?'' श्रीरामकृष्ण ने कहा, ''नहीं, एक बार मेरे मुख से सोमवार निकल चुका है, अब उनसे भिन्न कुछ नहीं निकल सकेगा।'' स्वामीजी बोले – ''जब तक व्यक्ति ने सत्य के अभ्यास से अपने मन को पूर्ण न बना लिया हो, तब तक भला उसकी वाणी से सत्य कैसे निकल सकता है? **सच्चे व्यक्ति को ही सत्य की उपलब्धि होती हैं।** सत्य ही सत्य को आकृष्ट करता है। प्रत्येक शब्द, विचार और कर्म फिर लौटकर आता है। मिथ्या के द्वारा कभी सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। ...

इसके बाद मन-वाणी तथा कर्म से **अहिंसा** का अभ्यास। भारत में कुछ ऐसे सम्प्रदाय हैं, जो इसे केवल जीवहत्या से सम्बद्ध मानते हैं। उनके अनुयायी शाकाहारी तो होते ही हैं, साथ ही वे प्रयास करते हैं कि अन्य प्रकार से भी प्राणियों की हिंसा न हो। सूक्ष्म जीवों को बचाने के लिए वे अपने मुख पर एक वस्त्र बाँधे रहते हैं और पाँव के सामने आनेवाले जीवों की रक्षा के लिये वे अपने सामने का मार्ग बुहारते हुए चलते हैं। परन्तु इसकी भी एक सीमा है, क्योंकि इनके अतिरिक्त भी ऐसे असंख्य प्रकार के जीवाणु होते हैं, जिनकी हिंसा से बचना असम्भव है। अत: अहिंसा का यह रूप हमें यथेष्ट दूरी तक नहीं ले जा पाता। वस्तुत: अहिंसा में पूर्णता की प्राप्ति के पूर्व ही व्यक्ति के जीवन से हिंसा की क्षमता चली जाती है। उसके

लिए – 'मुझसे सभी प्राणियों को कोई भय न हो' – यह उक्ति सत्य – एक जीवन्त सत्य हो जाती है। ऐसे व्यक्ति के समक्ष सिंह और मेमने एक साथ पड़े रहते हैं। नियमों को पूरा करने के बाद दया और करुणा की धारा उनके पार चली जाती है।

इसके बाद था – **ब्रह्मचर्य**। यह विषय उन्हें सर्वदा ही उद्वेलित कर देता। यह प्रसंग उठने पर वे कमरे के भीतर सिंह की भाँति टहलने लगते और अधिकाधिक उत्तेजित होने लगते। फिर वे सहसा किसी एक के सामने ऐसे खड़े हो जाते मानो कमरे में दूसरा कोई हो ही नहीं। और आवेगपूर्वक कहते, "देखो, देखते नहीं, एक विशेष कारणवश ही सभी संन्यासी-सम्प्रदायों में ब्रह्मचर्य पर बल दिया गया है? केवल उन्हीं सम्प्रदायों में आध्यात्मिक दिग्गजों का जन्म होता है, जिनमें कि ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन किया जाता है। क्यों, इसके पीछे अवश्य ही कोई-न-कोई कारण होगा? रोमन कैथोलिक चर्च ने असीसी के सेंट फ्रांसिस, इग्नेशियस लोयोला, सेंट टेरेसा, कैथेरीन-द्वय तथा अन्य अनेक सन्त पैदा किये हैं। परन्तु प्रोटेस्टेंट चर्च ने आध्यात्मिकता में इनकी श्रेणी के किसी एक को भी पैदा नहीं किया। निश्चय ही महान् आध्यात्मिकता और ब्रह्मचर्य के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसकी व्याख्या यह है कि प्रार्थना तथा ध्यान के द्वारा ऐसे नर-नारियों ने शरीर की सर्वाधिक सबल शक्ति को आध्यात्मिक ऊर्जा में रूपान्तरित कर लिया था। भारत में इसे भलीभाँति समझा गया है और योगी लोग इसे सप्रयास करते हैं। इस प्रकार रूपान्तरित हुई ऊर्जा ओजस् कहलाती है और मस्तिष्क में संचित रहती है। यह कुण्डलिनी के सबसे निम्न केन्द्र – मूलाधार से सर्वाधिक उच्च केन्द्र तक उठायी जाती है।" और यह सुनकर हम श्रोताओं को वे शब्द याद आ जाते – "और यदि मुझे उठाया गया, तो मैं सभी लोगों को स्वयं में खींच लूँगा।"

उसी उत्कण्ठा के साथ वे हमें बताते कि जब कभी किसी शक्ति या प्रतिभा की अभिव्यक्ति दीख पड़े, तो समझ लेना कि सुषुम्ना से होकर थोड़ी-सी ऊर्जा ऊपर उठ गयी है। और शायद उन्होंने ही कहा था या फिर सम्भव है हम लोगों ने स्वयं समझ लिया था कि किस प्रकार अवतार या सन्तगण भी इतना महान् प्रेम उत्पन्न कर सकते हैं, जिसके चलते गैलीली के मछुवारे अपने जाल छोड़कर उस युवा बढ़ई के पीछे चल पड़े और शाक्य वंश के राजकुमारों ने अपने राजपाट, रत्न-आभूषण तथा साम्राज्य का त्याग कर दिया था। यह एक दैवी आकर्षण था। यह दिव्य का खिंचाव था।

स्वामीजी ने कितनी मर्मस्पर्शी आकुलता के साथ ब्रह्मचर्य का यह विषय हम लोगों के समक्ष रखा! लगता था मानो वे हम लोगों से अनुरोध कर रहे थे, अनुनय कर रहे थे कि हम परम मूल्यवान समझकर इसका अभ्यास करें। और यदि हम इसमें प्रतिष्ठित नहीं होते, तो हम उनके योग्य शिष्य नहीं हो सकते थे। वे चाहते थे कि यह रूपान्तरण हम प्रयासपूर्वक लायें। वे बोले, "जिस व्यक्ति में क्रोध नहीं है, उसके पास संयमित करने के लिए कुछ है ही नहीं। मैं कुछ पाँच या छह ऐसे लोगों को चाहता हूँ, जो यौवन की शक्ति से परिपूर्ण हों।"

और **तपस्या**! सभी धर्मों के सन्तों ने क्यों उपवास तथा संयम का और शारीरिक तपस्या का जीवन बिताया है? यह सत्य है कि कुछ लोगों ने अज्ञानवश शरीर को शत्रु समझा और उस पर विजय प्राप्त करने के लिए इन उपायों की सहायता ली। परन्तु **इसके पीछे वास्तविक उद्देश्य था – इच्छाशक्ति पर नियंत्रण**। जो महान् कार्य हमारे सामने है, साधारण इच्छा-शक्ति उसे पूरा करने में सक्षम नहीं है। इसके लिए हमें इस्पात की नसें और फौलादी इच्छाशक्ति चाहिये, ऐसी इच्छा-शक्ति जिसे चेष्टापूर्वक संयमित तथा प्रशिक्षित किया गया हो। **संयम की प्रत्येक क्रिया इच्छा को सुदृढ़ बनाने में सहायक है।** भारत में इसे तपस् कहते हैं, जिसका शब्दश: अर्थ है – गरम करना। इसमें आन्तरिक या उच्चतर प्रकृति उष्ण हो जाती है। इसे कैसे सम्पन्न किया जाता है? इसके लिए स्वेच्छया ग्रहणीय विभिन्न अभ्यास हैं, यथा – महीनों तक मौनव्रत धारण करना, कुछ निर्धारित दिनों तक उपवास करना या फिर दिन में केवल एक बार भोजन ग्रहण करना। बच्चों को इसके लिए अपनी किसी प्रिय वस्तु को छोड़ना पड़ता है। इसमें शर्त यह है कि व्रत एक निर्धारित समय के लिए स्वेच्छापूर्वक ग्रहण किया जाना चाहिए। यदि व्रत को पूरा न किया जाय, तो यह लाभ की जगह हानि ही अधिक करता है। यदि इसे पूरा किया जाय, तो यह चरित्र-निर्माण का एक महत्त्वपूर्ण घटक बन जाता है, जो कि उच्चतर साधनाओं के लिये अति आवश्यक है।

इन कुछ दिनों के दौरान ध्यान-विषयक कुछ निर्देशों के सिवा शायद ही कुछ निर्दिष्ट उपदेश दिये गये होंगे, तथापि हमारे विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया, हमारे दृष्टिकोण का काफी विस्तार हुआ और हमारे आदर्शों में बदलाव आ गया। यह एक तरह की पुनर्शिक्षा थी। हमने स्पष्ट रूप से तथा निर्भयतापूर्वक विचार करना सीखा। अध्यात्म-विषयक हमारी धारणा में न केवल स्पष्टता आयी, अपितु यह उसके परे तक जा पहुँची। आध्यात्मिकता जीवन में कभी आलस्य, प्रमाद, दुर्बलता आदि नहीं लाता, बल्कि सजीवता, शक्ति, आनन्द, प्रेरणा, आभा, उत्साह आदि – जीवन के समस्त सुन्दर तथा सकारात्मक गुणों को लाता है। अत: असामान्य शक्तियों से विभूषित एक ईश्वरीय व्यक्ति को पाकर हम लोगों को विस्मय भी क्यों होना चाहिए था? पश्चिम में हम लोगों ने क्यों हमेशा ही शारीरिक दुर्बलता और कृशकायता को ही आध्यात्मिकता का लक्षण माना है? अब इस बारे में सोचने पर लगता है कि हम लोग इतने युक्तिहीन कैसे हो गये थे? आत्मा ही तो जीवन, शक्ति तथा दिव्य ऊर्जा का स्वरूप है।

उनकी औपचारिक शिक्षा – उस महान् केन्द्रीय भाव को यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है। उन्हें स्वयं ही पढ़ा जा सकता है। परन्तु उसके अतिरिक्त भी एक प्रभाव जैसा कुछ था – बन्धनों से छूटने की इच्छा से ऊर्जित एक परिवेश – इसे चाहे जो कह लें – परन्तु उसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता, तथापि वह किन्हीं भी शब्दों से अधिक शक्तिशाली था। यही वह चीज थी, जिसने हमें स्वयं को ऐसी धन्यता का अनुभव करने को प्रेरित किया, जो अवर्णनीय थी। उनकी यह उक्ति – "सांसारिक जीवन के प्रति यह जघन्य आसक्ति ...," ने हमारे लिए जीवन तथा मृत्यु के अतीत-क्षेत्र पर पड़े परदे को हटा दिया और हमारे अन्त:करण में उस महिमामयी मुक्ति के लिए कामना का प्रतिरोपण कर दिया। हमने देखा की एक जीवात्मा कैसे माया के जाल से बच निकलने के लिए संघर्ष कर रही है। उनके लिए देहबोध एक असह्य बन्धन था; एक सीमा मात्र नहीं, बल्कि अपमानजनक पतन का लक्षण था। पिंजरे में बद्ध एक ऐसे सिंह के समान, जिसे पता चल गया हो कि सलाखें लौहे से नहीं बल्कि बाँस से निर्मित हैं, टहलते हुए **वे गरज उठे – "आजाद ! आजाद !! आजाद !!!"** किसी अन्य दिन वे कहते – "इस बार हमें बन्धन में नहीं पड़ना है। अनेकों बार माया ने हमें पकड़ा है, अनेकों बार हमने अपनी आजादी के बदले में चीनी के बने खिलौनों को स्वीकार किया है, जो जल का स्पर्श होते ही गल जाते हैं। इस बार हमें पकड़ से बच निकलना है।" इस प्रकार हमारे मनों में मुक्ति की महान् इच्छा प्रतिरोपित की गयी। उसके लिए आवश्यक तीन चीजों में से दो – मानव देह तथा गुरु – तो हमारे पास पहले से ही थे, और अब वे हमें वह तीसरी चीज – मुमुक्षा – मुक्ति पाने की इच्छा प्रदान कर रहे थे।

"ठगे मत जाना। माया महा ठगिनी है। उसके चंगुल से निकल आओ। इस बार उसके जाल में मत फँसना।" और फिर आगे वे कहते चले जाते – "इन भ्रान्तियों के बदले में अपनी अमूल्य विरासत को मत बेचो। उठो, जागो और लक्ष्य की प्राप्ति हुए बिना रुको मत।" इसके बाद वे जलती हुई आँखों के साथ द्रुत वेग से चलकर हममें से किसी एक के पास पहुँच जाते और उँगली उठाकर कह उठते – **"याद रखो, एकमात्र ईश्वर ही सत्य है।"** एक पागल के समान ! परन्तु वे ईश्वर के लिए पागल थे। क्योंकि यही वह काल था, जब उन्होंने *'संन्यासी का गीत'* लिखा। हम अपनी दिव्यता को, न केवल खो चुके हैं, बल्कि यह भूल भी चुके हैं कि वह कभी हमारी सम्पदा थी। इसीलिए स्वामीजी बारम्बार हमें याद दिलाते – "अमृत की सन्तानो, उठो, जागो ! पुतलों के छलावे में मत आओ। ये चीनी या नमक के पुतले हैं और ये गलकर अपना अस्तित्व खो बैठेंगे। एक सम्राट् बनो और अपने साम्राज्य को जान लो। यह तब तक नहीं होगा, जब तक तुम इसका त्याग न कर दो। इसलिए इसे त्याग दो ! इसे त्याग दो !"

अस्तित्व के लिये संघर्ष, या धन तथा सत्ता पाने का प्रयास अथवा सुख की खोज में ही मनुष्य की सारी बुद्धि, ऊर्जा तथा समय व्यय हो जाता है। परन्तु लग रहा था कि हम मानो एक अलग ही दुनिया में हैं। वहाँ प्राप्त करने को हमारा एकमात्र लक्ष्य था – मुक्ति – उस बन्धन से मुक्ति जिसमें माया ने हमें बाँध रखा है, जिसमें माया ने पूरी मानवता को फँसा रखा है। प्रत्येक को कभी-न-कभी इससे छुटकारा पाने का अवसर प्राप्त होगा। हमारा समय आ पहुँचा था। क्योंकि इन दिनों हमारे गुरुदेव के सचेतन प्रयास और उनके द्वारा उत्पन्न प्रभाव के फलस्वरूप हमारे द्वारा भी बिना-प्रयास ही, हमारी प्रत्येक आकांक्षा, प्रत्येक कामना, प्रत्येक संघर्ष इसी एक उद्देश्य की उपलब्धि की ओर लगा था।

उनके लिए तो मुक्ति का यह भाव एक सनक के समान था – केवल अपने लिए ही नहीं, बल्कि सबके लिए मुक्ति। तथापि वे केवल उन्हीं लोगों की सहायता कर सकते थे, जिनके अन्दर वे माया की शृंखला से बाहर निकल आने की ज्वलन्त कामना जगा पाते थे –

तोड़ो जल्दी निज शृंखल,
जकड़े रहती जो तुमको ।
सोने की बनी हुई हो, या लोहे से निर्मित हो ।।
निर्भय अन्तर फिर गाओ -
ॐ तत् सत् ॐ

सारदा देवी : हमारी आध्यात्मिक जननी

सारा ओली बुल

हम लोग ही पहली विदेशी हैं, जिन्हें श्रीरामकृष्ण की सहधर्मिणी श्री सारदा देवी का दर्शन करने की अनुमति मिली थी।[१] उन्होंने 'मेरी बेटियाँ' कहकर हमें स्वीकार किया और कहा कि ईश्वरेच्छा से ही उनके साथ हमारी भेंट हुई है। उन्होंने हमें अपरिचितों की तरह बिल्कुल भी नहीं देखा। गुरु का आज्ञाकारी होने का क्या तात्पर्य है – यह पूछने पर यह बताते हुए कि उसके लिए पति ही गुरु हैं, उन्होंने कहा – किसी को गुरु मान लेने पर आध्यात्मिक जीवन विषयक उसकी सारी बातें सुननी या माननी होगी, लेकिन ऐहिक विषयों में अपनी सद्बुद्धि को लगाकर उसे सम्पन्न करना होगा, उस कार्य में कभी-कभी यदि गुरु का अनुमोदन न हो, तो भी गुरु की श्रेष्ठ सेवा करनी होगी।[२]

बचपन में ही वे पति के साथ विवाह-बन्धन में आबद्ध हुई थीं। जब उन्होंने खुशी-खुशी पति को संन्यासी होने की स्वीकृति दी, तब उन्हें अपने पति का घनिष्ठ सान्निध्य और उनकी शिष्या का स्थान मिला। पति दिनो-दिन हर तरह की शिक्षा देकर उन्हें गढ़ने लगे। दूसरी ओर पति के सान्निध्य में बीते वर्षों के दौरान वे उनकी सलाहकार थीं। वे निरन्तर प्रार्थना करतीं कि मेरी कामनाओं को शुद्ध करो, ताकि सर्वदा मैं तुम्हारे योग्य रह सकूँ। उन्होंने निर्धनता और ब्रह्मचर्य का व्रत लिया है, गर्भधारिणी माँ के साधारण आनन्द को त्यागकर वे कोटि-कोटि सन्तानों की आध्यात्मिक जननी हो गयी हैं।[३]

पवित्रता-स्वरूपिणी – *जोसेफिन मैक्लाउड*

पवित्रता-स्वरूपिणी माँ! मैंने उन्हें देखा है, मैंने उन्हें देखा है।[४] वे महा मूल्यवान मणि के समान हैं। हम सबने इसका अनुभव किया है और श्रीरामकृष्ण ने उनकी पूजा की थी। वे ही (रामकृष्ण संघ की) मूल केन्द्र हैं – शान्त, शक्तिमयी, मानवीय ऐश्वर्य से पूर्ण और परम अन्तर्दृष्टि की अधिकारिणी हैं।[५] वे इस नये धर्मसंघ की महिमामयी माता मेरी हैं।[६]

गीता (१८/६६) में कहा है – "सभी धर्मानुष्ठानों को त्यागकर मेरी शरण लो, शोक मत करो, मैं तुम्हें सारे पापों से मुक्त करूँगा।" मुझे इस उक्ति के अद्भुत रूपायन की बात तब ज्ञात हुई, जब मैंने मठ में गंगा के घाट पर बैठकर दो तरुण संन्यासियों फणी (बाद में स्वामी भवेशानन्द) और गोपाल-चैतन्य (राममय, बाद में स्वामी गौरीश्वरानन्द) के मुँह से श्री सारदा देवी की जीवन-कथा सुनी। सारदा देवी ने दीक्षा देते समय उनके मस्तक पर गंगाजल छिड़कते हुए कहा था – "तुम्हारे पूर्व जन्मों तथा इस जन्म के सारे पापों का नाश हो।" इसका तात्पर्य यह है कि गुरु शिष्य के सभी पापों का भार स्वयं पर ले लेते हैं। इस घटना में सारदा देवी ही वे गुरु हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दू धर्म में भी दूसरों के पाप ग्रहण करने की बात है। देखा कि इन दो तरुण संन्यासियों का मन, प्राण तथा जीवन आज भी ऐसा उज्ज्वल है कि उनके संस्पर्श से दूसरों में भी अनिवार्य रूप

१. श्रीमती ओली बुल ने १७ मार्च १८९८ ई. को पहली बार माँ का दर्शन किया। उनके साथ कुमारी मैक्लाउड तथा कुमारी मार्गरेट एलीजाबेथ नोबल (भगिनी निवेदिता) भी थीं। उल्लेखनीय है कि कुछ महीनों बाद (नवम्बर १८९८ में बागबाजार के १६, बोसपाड़ा लेन में स्थित निवेदिता के आवास पर माँ का पहला फोटो खींचा गया और उसकी व्यवस्था श्रीमती बुल ने की थी। माँ के प्रति उनकी बड़ी श्रद्धा थी। वे जब तक जीवित रहीं, हर महीने माँ के नाम साठ रुपये भेजा करती थीं। (श्रीश्री सारदा देवी – ब्रह्मचारी अक्षय चैतन्य, १०वाँ सं., १३८३ बं., कलकत्ता बुक हाउस, कोलकाता, पृ. ६८)

२. माँ के मंत्रशिष्य स्वामी अभयानन्द ने बताया था – "माँ कहती थीं, आध्यात्मिक विषयों में गुरुवाक्य या गुरुनिर्देश ही निश्चित रूप से अन्तिम बात है, पर ऐहिक विषयों में सब ओर से विचार कर जो हितकर लगे, करना चाहिए। यह शिक्षा उन्हें ठाकुर से मिली थी।" इस प्रसंग में माँ की एक और बात याद आती है। एक भक्त महिला ने माँ से गुरुनिन्दा-प्रसंग में एक श्लोक सुना था। उसका तात्पर्य इस प्रकार था – "उचित बात गुरु से भी कही जा सकती है, इससे पाप नहीं होता।" (श्रीश्री मायेर कथा, १म भाग, १३७६ बं., पृ. १७)

३. श्रीनगर से ११ जुलाई १८९८ को मैक्समूलर के नाम लिखा गया श्रीमती बुल का पत्र। (बंगला में 'निवेदिता लोकमाता' – शंकरी प्रसाद बसु, प्रथम खण्ड, सं. १९६८, कलकत्ता, पृ. १७६-१७७)

४. श्रीमाँ सारदा देवी, स्वामी गम्भीरानन्द, ५वाँ सं., पृ. ३०३

५. भानजी अल्बर्टा को लिखा कुमारी मैक्लाउड का पत्र। (देखिये – Tantine The Life of Josehpine MacLeod – Friend of Swami Vivekananda, Pravrajika Prabuddhaprana, p. 147) 'शतरूपे सारदा' ग्रंथ (पृ. ७९७) में पत्र को अलबर्टा के पति जॉर्ज मन्टेगु द्वारा लिखित बताया गया है। वहाँ पत्र की तारीख ११ फरवरी १९१३ है।

६. अलबर्टा के नाम ५ अक्तूबर १९२७ को लिखा पत्र

से वही आनन्द संचरित होता है। जहाँ तक याद है, फणि ने १९१६ ई. में पहली बार माँ को देखा और उनसे दीक्षा ली। इस दिन दीक्षा देने के पूर्व ही माँ का भोजन परोस दिया गया था, पर वे उसे हटाकर फणी को लेकर पूजाघर में गईं और सबने अवाक् होकर देखा कि दस मिनट तक दीक्षानुष्ठान चला। अगले सप्ताह फणी स्वेच्छया ही (प्रथम) महायुद्ध के लिये सेना में भर्ती होकर तीस अन्य छात्र सैनिकों के साथ कराची चला गया। वहाँ से वह ईरान गया। दीक्षा लेते समय फणी ने सेना में शामिल होने की बात सोची ही न थी।

सबको अनुभव हुआ कि श्री सारदा देवी ने पहले ही जान लिया था कि यह घटना होगी (अर्थात् वे दिव्य-दृष्टि-सम्पन्न थीं)। वे जानती थीं। उनके प्रथम दर्शन के समय गोपाल-चैतन्य की उम्र १४ वर्ष थी। वह जयरामबाटी से दो मील दूर रहता था। बाद में उसके घर के लोगों ने उसे सारदा देवी से मिलने जाने से मना किया, इसीलिए वह दूसरे गाँव के अपने एक शिक्षक से मिलने (उनसे मिलने में उसके घर के लोगों को आपत्ति नहीं थी) जाकर, चक्कर लगाकर हर हफ्ते माँ से मिलने आता। इस कारण उसे हर बार चौदह मील पैदल चलना पड़ता। एक दिन उसे विस्मय में डालते हुए उसके पिता उसे बारह रुपये देकर बोले, "इसे रखो; जैसे चाहो, खर्च करना।" (इसके पूर्व तक उसे अपनी माँ से एक-दो पैसे से अधिक नहीं मिला था और पिता से कुछ भी नहीं मिला था।) इसके फलस्वरूप वह उस समय से पैसा खत्म होने तक प्रति सप्ताह सारदा देवी के लिए चार से आठ आने तक की फल-मिठाई खरीदकर ले जा सका था। इसके बाद रुपये समाप्त हो जाने पर उसे जाने में संकोच होने लगा। कुछ दिनों बाद सारदा देवी गोपाल के गाँव से कुछ कुछ सामान लाने के लिए हर सप्ताह उसे कुछ पैसे देने लगीं। गोपाल-चैतन्य का गाँव सारदा देवी के गाँव से बड़ा था। अब वह कुछ ले जाने में समर्थ होकर बड़ा खुश था। बीच-बीच में कोई विशेष उत्सव या खाने-पीने की व्यवस्था होने पर सारदा देवी उसे सोमवार की सुबह स्कूल जाने से रोक लेतीं और कहतीं – "तुम्हारे शिक्षक तुम्हारे देर से आने पर ध्यान नहीं देंगे।" और सचमुच ऐसा ही होता।

जहाँ श्रीरामकृष्ण के केवल मुट्ठी भर ही शिष्य हैं और स्वामीजी के कुछ सौ मात्र ही शिष्य हैं, वहीं सारदा देवी के शिष्यों की संख्या हजारों में है, क्योंकि सारदा देवी स्वामी विवेकानन्द जी के देहत्याग के बाद २० वर्ष (वस्तुत: १८ वर्ष) से भी अधिक काल तक जीवित रहीं। अपने परिवार के लोगों को लेकर वे बड़े झंझट में थीं। उनकी भतीजी (राधू) अत्यन्त चिड़चिड़े स्वभाव की थी। वह उन्हीं के साथ सोती और उन्हें सदा परेशान करती। सारदा देवी ने इस भतीजी की शादी की। बाद में उसके पति ने उसे छोड़ दिया। अन्त में वह लड़की अपंग हो गयी और उसके लिए खड़े हो पाना भी कठिन हो गया। वह बालिका (अब महिला कहना ही उचित है) अब पूर्ण स्वस्थ है। जो महीयसी नारी अपने जीवनकाल में वास्तविक रूप से पूजी गयीं, घर-गृहस्थी के बीच उनका यथार्थ जीवन जानकर मेरे आनन्द तथा आग्रह की सीमा न रही। अब (जयरामबाटी में) उनके नाम पर एक अति सुन्दर मन्दिर बन रहा है, जो बेलूड़ के स्वामीजी के मन्दिर से बहुत बड़ा है,[७] – तीन साधु और ब्रह्मचारी उनकी पूजा-सेवा में हैं। वहाँ से कुछ मील दूर – कामारपुकुर में श्रीरामकृष्ण के जन्म-स्थान में अभी तक मन्दिर नहीं बना है। (तथापि उसके लिए धन-संग्रह हो चुका है)। गोपाल ने बताया कि सारदादेवी ने उसे ठीक ठीक ढंग से काम करने की शिक्षा दी है, ताकि काम उल्टा-सीधा या अस्त-व्यस्त न हो। एक बार लोगों के भोजन के लिए उन्होंने गोपाल से एक पंक्ति में आठ आसन बिछाने को कहा। गोपाल ने वैसा ही किया। उन्होंने उसे ठीक से बिछाने को कहा। दूसरी बार भी जब वह आसनों को सीधा नहीं लगा सका, तो उन्होंने स्वयं ही उन्हें ठीक कर दिया। वे बड़ा ध्यान रखती थीं कि प्रत्येक पत्तल अच्छी तरह धुला हो और उसके बाद स्वच्छ कपड़े से पोछा गया हो, ताकि रोटियाँ पत्तल से चिपक न जायँ।

एक दिन गोपाल फुलवारी को गोड़ना भूल गया था। उसने आकर देखा कि सारदा देवी स्वयं ही उसे गोड़ रही हैं। उसके आपत्ति जताने पर सारदा देवी ने कहा – "मेरे ये दो हाथ सभी काम कर सकते हैं।" ऐसा कोई भी काम नहीं था, जो वे न करती हों या न कर सकती हों।[८]

(२१ जुलाई १९२०[९] का दिन।) वह निर्भीक, शान्त, तेजस्वी जीवन का दीप बुझ चुका है – और आधुनिक हिन्दू नारियाँ आगामी तीन हजार वर्षों के दौरान जिस महिमामय अवस्था में उन्नीत होंगी, उसका आदर्श वे छोड़ गयी हैं। मेरे लिए उनका जीवन असीम उत्साह का जीवन है – जिसने हम सबको उसी शरणदायी सहानुभूतिपूर्ण जीवन के पास एकत्र किया है, जो नये प्रयोजनों के अनुसार आत्मबोध से पूर्ण, सरल प्रज्ञा में प्रतिष्ठित, नये-नये आदर्शों के उदाहरण

७. लेखिका का तात्पर्य यह है कि बेलूड़ मठ में स्थित स्वामीजी के मन्दिर की अपेक्षा जयरामवाटी का श्रीमाँ का मन्दिर बड़ा है।

८. कुमारी मैक्लाउड द्वारा अपनी भानजी अलबर्टा के नाम २ जून १९२६ को लिखा पत्र (देखिये – शतरूपे सारदा ग्रन्थ का परिशिष्ट)। मूल पत्र इंग्लैंड के रामकृष्ण वेदान्त सेंटर के सौजन्य से प्राप्त हुआ है। पत्र का सम्बोधन अंश नहीं मिला। यह बेलूड़ मठ के अतिथि-निवास से लिखा गया है। यह प्रव्राजिका प्रबुद्धप्राणा द्वारा अंग्रेजी में लिखित कुमारी मैक्लाउड की जीवनी (पृ. १९१-९२) में भी उद्धृत हुआ है।

९. २० जुलाई १९२० ई. को रात डेढ़ बजे माँ ने देहत्याग किया। तारीख अंग्रेजी में है, इसीलिए २१ जुलाई लिखा है।

प्रस्तुत कर रहा है। ओह, उनके जीवन के आधार पर हममें से प्रत्येक कितना अद्‌भुत दृष्टान्त प्रस्तुत कर सकती हैं! वे आदर्श के नये-नये दृष्टान्तों की सृष्टि कर गयी हैं – निश्चय ही हमें भी वैसा ही करना होगा – उनका नहीं, हमारे स्वयं के जीवन के उदाहरण द्वारा। अन्य किसी भी उपाय से जगत् की समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता।[१०]

दिव्य सान्निध्य में

बेटी लेगेट

कलकत्ते से मेरे विदा लेने[११] के दो दिन पूर्व ही सारदा देवी (वाराणसी से) वहाँ आयी थीं। (बागबाजार के) उनके छोटे-से मकान में मैं उनका दर्शन करने गयी। मेरे ही समान अलबर्टा[१२] को भी उनके सान्निध्य में एक विराट् तथा गम्भीर अस्तित्व की अनुभूति हुई थी। हमने काफी समय उनके साथ बिताया। (साथ में भगिनी क्रिस्टिन भी थी) हमारे समक्ष वे बड़े सहज रूप में थीं। सिर पर घूँघट नहीं था और हाथ भी अनावृत थे। उन्होंने स्वयं ही (हमारे बैठने के लिए) चटाई बिछा दी थी। (इसके बाद माँ से सुनी हुई उनके डकैत माता-पिता और षोडसी पूजा की घटना का वर्णन है)।

वे बड़ी शान्त और गम्भीर थीं। पति (ठाकुर) के प्रति उनकी गम्भीर श्रद्धा थी। उनकी बातों में, उनकी विभिन्न भाव-भंगिमाओं से उनकी वह श्रद्धा प्रगट हो रही थी। ... मैंने माँ का एक फोटो लिया। वे स्वयं जैसी सुन्दर है, उनकी फोटो भी वैसी ही अद्‌भुत है। उन्होंने कई बार मेरे मुख को अपने दोनों हाथों में लेकर स्नेह जताया। प्रत्येक बार मैं उनके गहन स्नेह के स्पर्श से अभिभूत हो गयी। क्रिस्टिन बीच-बीच में दो-एक बातें कर रही थी। जिस कमरे में वे बैठी थीं, उनके उस पूजागृह को छोड़कर जब हम चलने लगीं, तब हमें फूलों की तीन बड़ी-बड़ी मालाएँ दी गयीं। उन्हें मैंने अपने फ्राक के ऊपर बड़े प्रेम से प्राय: जकड़ लिया था। यह देखकर वे खूब आनन्दित हुईं। उन्होंने मालाओं का स्पर्श किया। वे एक शिशु के समान हँस रही थीं। मैंने घूम-घूमकर उनके मकान के सारे कमरे देखे। मैंने उनकी सभी चीजें, देव-विग्रह, देवता का पट देखा। मैं उस समय ईसा की माता मरियम की सरलता तथा अनाडम्बर जीवन के साथ माँ के सादृश्य की बात सोचने लगी, जो अपने पचासवें वर्ष में निश्चय ही माँ के समान ही रही होंगी। पूरा घर देखने के बाद जब मैं उनसे विदा लेकर सीढ़ी से उतर रही थी, तो देखा कि वे सीढ़ी के पास आकर खड़ी थीं – ज्योतिर्मयी। उन्होंने मुझे अपने पास खींचकर पुन: मेरा मुख अपने दोनों हाथों में ले लिया। उन्होंने मुझे आशीर्वाद दिया। आनन्द के आवेग से मेरे दोनों नेत्रों में जल भर आया। मुझे लगा कि उनके नेत्र भी सूखे नहीं थे, पर मेरे नेत्रों में आँसू भरे होने के कारण मैं उनका मुख नहीं देख पा रही थी।[१३]

श्री माँ

मनोमोहन मित्र

कामारपुकुर और जयरामवाटी महातीर्थ हैं। कामारपुकुर और जयरामबाटी के निवासियों का दर्शन करना परम सौभाग्य की बात है।

ठाकुर के लिये कोई नित्य जीव आदि नहीं था, वे तो पतित, अज्ञानी तथा मायान्ध जीवों को ही देखते थे। यदि उन्हें जरा भी आभास हो जाता कि ये लोग भगवान की शरण लेना चाहते हैं, तो उनकी कृपा का अक्षय भण्डार स्वयं ही खुल जाता। वे उन पर स्वयं कृपा करते, श्रीमाँ से कृपा कराते और शुद्ध आधार होने पर इष्ट-दर्शन भी करा देते। वे उन पर कितने प्रकार से कृपा दिखाते, इसे कहकर समाप्त नहीं किया जा सकता।

१३०८ बंगाब्द (१९०२ ई.) में श्रीरामकृष्ण-योगोद्यान में पक्के नाट्य मन्दिर के निर्माण के उत्सव के समय श्रीमाँ को योगोद्यान में बुलाया गया था। उस दिन माँ ने ठाकुर की वेदी

(शेष अगले पृष्ठ पर)

---

१०. स्वामी सारदानन्द के नाम लिखा मिस मैक्लाउड का १५ अगस्त, १९२० का पत्र (उद्‌बोधन, वर्ष ७१, अंक ७, पृ. ३४४)

११. १९१२ ई. के अन्त में कुमारी जोसेफिन मैक्लाउड की दीदी, स्वामी विवेकानन्द की परम अनुरागिनी, श्रीमती बेटी लेगेट अपनी पुत्री अल्बर्टा तथा दामाद को लेकर भारत आयी थीं। माँ १६ जनवरी १९१३ को वाराणसी से कलकत्ता आयी थीं। बेटी लेगेट १८ जनवरी को कोलकाता से गयीं। जब जहाज रंगून के पास पहुँचा, तो २० जनवरी १९१३ को श्रीमती लेगेट ने जहाज से ही ये बातें लिखी थीं।

१२. अल्बर्टा श्रीमती लेगेट के पहले विवाह की पुत्री थीं। अल्बर्टा का विवाह ब्रिटिश राज-परिवार में हुआ था। नवम अर्ल ऑफ सैंडविच जार्ज मान्टेगु उनके पति थे। अल्बर्टा तथा जार्ज मान्टेगु श्रीमती लेगेट के साथ नहीं, बल्कि अलग से माँ का दर्शन करने गये थे। अल्बर्टा तथा जार्ज माँ का दर्शन करके अभिभूत हो गये थे। अल्बर्टा ने बाद में अपनी मौसी कुमारी मैक्लाउड के नाम एक पत्र में यह बात लिखा था। अल्बर्टा ने अपने मातृदर्शन का विवरण मैक्लाउड के नाम जिस पत्र में लिखा था, उसे देखने का सुयोग हमें नहीं मिला, तथापि उस पत्र का कुछ अंश प्रव्राजिका प्रबुद्धप्राणा द्वारा लिखित Tantine The *Life of Josehpine MacLeod – Friend of Swami Vivekananda* (Sri Sarada Math, Dakshineswar, Calcutta, p. 147 ग्रंथ में प्राप्त है। वहाँ पत्र का कोई दिनांक नहीं है। प्रव्राजिका प्रबुद्धप्राणा ने मौखिक रूप से बताया है कि वह ११ फरवरी १९१३ ई. का दिन था। 'शतरूपे सारदा' ग्रंथ (पृ. ७९७) में पत्र को जॉर्ज मान्टेगु को लिखित बताया गया है। वहाँ पत्र की तारीख ११ फरवरी १९१३ है।

१३. कु. मैक्लाउड को बेटी लेगेट का २० जनवरी, १९१३ का पत्र।

सन्त कान्हो पात्रा

सौ. जयश्री नातू

सात सौ साल पूर्व श्री ज्ञानेश्वर महाराज ने श्री ज्ञानदेवी के तेजस्वी स्वरूप में, अध्यात्म के सुवर्ण सिंहासन पर मराठी भाषा में साहित्य-सृजन का श्रीगणेश किया। इसके उपरान्त कई मराठी सन्त कवियों ने अपने अनुभव इसी भाषा में ग्रथित किये थे। महाराष्ट्र के लोगों ने बड़ी आत्मीयता के साथ हीरे-मोतियों के खजाने के समान इन ग्रन्थों को सँभाल कर रखा। परम्परा क्रम से यह खजाना एक पीढ़ी, दूसरी पीढ़ी को सौंपती रही। यह सिलसिला आज तक जारी है। नामदेव, तुकाराम, एकनाथ आदि श्रेष्ठ सन्तों का साहित्य, इस खजाने के रत्नजटित दीप्तिमान आभूषण हैं। इनके अतिरिक्त सन्त चोखा, सोयरा बाई, कान्हो पात्रा, सेना और गोमाई – ये भी छोटे, परन्तु उतने ही तेजस्वी हीरे-मोतियों के अलंकार हैं।

*** संत कान्हो पात्रा ***

कहते हैं कि स्त्री अपने आप में ही काव्य का एक विषय है। तथापि स्त्री का भाग्य अवश्य काव्य से जुड़ा है। पुराने जमाने में अन्न पीसना, घर की सफाई, भोजन पकाना आदि सभी काम करते समय वह गीत गाया करती थी। बच्चे को सुलाते समय लोरी, शादी-ब्याह में ढोलक गीत, ठाकुर-घर में भजन आदि अवसरों पर गीत वह तब भी गाती थी और (भले ही कम मात्रा में) पर आज भी गाती है। जीवन का हर अनुभव उत्कटता के साथ कहना, यह कवि का स्वभाव है और स्त्री का भी। शायद इसी कारण स्त्री-सन्तों की रचनाएँ कहीं अधिक गूढ़ तथा मर्मस्पर्शी हैं। कान्हो पात्रा की रचनाएँ भी इस गुण से भरी हैं। कुल मिलकर उनकी केवल ३० पद्य रचनाएँ ही आज प्राप्त हैं। उनकी और भी न जाने कितनी रचनाएँ काल के अँधेरे में लुप्त हो गयीं। इन कुछ रचनाओं से भी कान्हो पात्रा के अनुभव, उनकी भावभिनी भाषा, उदात्त भक्ति तथा पवित्रता की झलक स्पष्ट रूप से निखर उठती हैं।

*** जन्म तथा बालपन ***

कुल, जाति, वंश तथा लिंग आदि के भेद हर समाज के एक अभिन्न अंग के रूप में दीख पड़ते हैं। स्पष्टतः ये भेद मानव-निर्मित हैं। प्राचीन ऋषियों तथा ज्ञानियों ने समाज के समुचित संगठन के लिए एक संरचना बनाई, जिसमें सामाजिक हित की दृष्टि से कुछ विभाग बनाये गये। परन्तु कालान्तर में इसकी हितकर उपयोगिता के स्थान पर हानिकर ऊँच-नीच के भाव ने पाँव फैला लिये। तथापि ईश्वर-भक्तों के राज्य में इस ऊँच-नीच के दैत्य ने कभी कदम रखने की हिम्मत नही की। तुकाराम महाराज ने ठीक ही कहा है – "इस ईश्वर-भक्ति के साम्राज्य में जातिभेद का कोई स्थान नहीं है –

जाती भेद काही। तुका म्हणे येथे नाही ।।

महाराष्ट्र का श्रेष्ठ तीर्थ पण्ढरपुर परगने में मंगलवेढ़ा नाम का एक छोटा-सा गाँव था। आज तो वह काफी बड़ा तालुका बन गया है। इसी गाँव में कान्हो पात्रा का जन्म हुआ। कान्हो पात्रा के जन्म के बारे में प्रामाणिक जानकारी काफी कम मिलती है। मान्यता है कि उसका जन्म १६६८ ई. में हुआ था।

*** कुल-जात-व्यवसाय ***

कान्हो पात्रा की माँ एक कोठेवाली थी। श्यामा नाम की वह वेश्या बड़ी रूप-गुण-सम्पन्न थी। परन्तु वह स्वयं जानती थी कि उसकी पुत्री कान्हो पात्रा उससे भी कई गुना अधिक सुन्दर और अनेक गुणों से विभूषित है। वह सोचती

पिछले पृष्ठ का शेषांश

के सम्मुख बैठकर अपने हाथों से पूजा की थी। माँ की पूजा देखकर मैंने अनुभव किया था कि माँ कैलास की भगवती के रूप में साक्षात् महादेव की पूजा कर रही हैं और हम लोग प्रेम से भावविभोर होकर वह पूजा देख रहे हैं। माँ के निवेदन के समय की आर्तता के विषय में मैं क्या कहूँ? हम सभी अभिभूत हो गये। माँ की चरणधूलि से नवनिर्मित नाट्य मन्दिर पूत और पवित्र हो गया।

एक अन्य दिन मैं काफी देर तक माँ के पास था। वहाँ से लौटकर संध्या को ध्यान करते समय मैंने माँ को सहसा महालक्ष्मी के रूप में देखा। देखा, माँ एक रत्न-सिंहासन के ऊपर बैठी हैं और माँ के दोनों ओर दो किशोरियाँ चामर डुला रही हैं। सिंहासन के नीचे सूँड उठाये दो हाथी खड़े हैं। माँ के सिर पर स्वर्णजड़ित मुकुट है, शरीर अनेक आभूषणों से सुसज्जित है, एक विद्युत्-प्रभावत् उज्ज्वल साड़ी पहने हैं। उनके एक हाथ में वर, दूसरे में आशीर्वाद की मुद्रा और होठों पर हँसी की रेखा है। जहाँ-जहाँ माँ की दृष्टि पड़ रही है, वहीं से गुच्छे-गुच्छे कमल के फूल प्रस्फुटित हो उठते हैं। माँ ने अपनी उसी प्रसन्न-दृष्टि से मेरी ओर देखा। मेरा हृदय भी मानो कमल की भाँति प्रस्फुटित होने लगा। उसके बाद क्या हुआ, मुझे ज्ञात नहीं।[१४]

❖ (क्रमशः) ❖

१४. उद्बोधन कार्यालय से १३५१ बंगाब्द में प्रकाशित 'भक्त

कि यदि अपनी यह लावण्यवती कन्या नृत्य-गीत में निपुण हो जाय, तो जरूर किसी राजा-महाराजा का दिल जीत लेगी। स्पष्ट है कि राजा-महाराजा का आश्रय पाते ही उसका भविष्य तो सोने-चाँदी से भरा होगा। इस दूरदृष्टि के साथ श्यामा ने उसकी नृत्य-गीत की शिक्षा आरम्भ की। दिन-ब-दिन कान्हो पात्रा इन दोनों कलाओं में पारंगत होने लगी। कान्हो पात्रा जब अपनी मधुर आवाज में बड़ी तन्मयता के साथ भावभीने गीत गाती, तो उसकी माँ श्यामा आनन्दविभोर होकर सुनती। वह गणिका अपनी पुत्री के उज्जवल भविष्य पर आशादृष्टि लगाए बैठी थी।

कालक्रम से कान्हो पात्रा ने अपने यौवन में प्रवेश किया। उसकी माता उसकी शिक्षा पर काफी ध्यान देने लगी और संगीत में उसकी प्रगति से तो वह बड़ी सन्तुष्ट थी। परन्तु कान्हो पात्रा को केवल ईश-प्रार्थना और भजन ही गाते देख वह चिन्तित हो उठी। बार-बार मना करने पर भी कान्हो पात्रा की रुचि भजन और प्रार्थना में बढ़ती देखकर वह समझ गयी कि पुत्री के ये लक्षण ठीक नहीं हैं।

ऐसे देवदुर्लभ लक्षण तो लाखों में से किसी एक में ही दीख पड़ते हैं। यौवन में ही जिसे भगवान के प्रति इतना अनुराग हो, उसे तो परम भाग्यशाली कहा जाता है। परन्तु श्यामा एक गणिका थी। उसकी व्यवहार-दृष्टि कुछ अलग ही थी। उसकी नजरों में कान्हो पात्रा के ये लक्षण बड़े अशुभ थे। उसने सोचा कि कहीं ऐसा न हो कि पुत्री हाथ से निकल जाय; इसे यथाशीघ्र रास्ते पर लाना होगा। अत: एक दिन माता ने कान्हो पात्रा को अपने पास बुलाया। वह उसके प्रति खूब मधुरता दिखाते हुए उससे कहने लगी – "पुत्री कान्हू, आज हम राजमहल में जा रहे हैं।"

कान्हू – "क्यों माँ, राजमहल किस कारण जाएँगे?"

माँ – "अरी पगली, महाराजा के दर्शन हेतु और क्यों?"

कान्हू – "उनके दर्शन से क्या होगा माँ?"

माँ – "बेटी, तू अब बड़ी हो गयी है। अपने इस अनुपम सौन्दर्य, मधुर गायन और अपनी बहारदार नृत्य से अब तुम्हें महाराज की सेवा करनी होगी। इससे वे खुश हो जाएँगे और तुम पर हीरे-मोती लुटाएँगे। सम्भव है कि वे सदा के लिये ही तुम्हें अपनी सेवा में आश्रय दे दें।"

कान्हू – "माँ, इस प्रकार अपना रूप-लावण्य बेचना मुझे कतई पसन्द नहीं। मैं नहीं चाहती कि इस तरह शरीर का व्यापार करके मेरी पवित्रता नष्ट हो।"

पुत्री के इस कुछ अलग अंदाज की माता को थोड़ी भनक पहले से ही थी, तथापि उसे समझाने के लिये श्यामा बोली – "देख कान्हू, यह गणिका-व्यवसाय हमारे पुरखों के समय से ही चला आ रहा है। मेरी माँ गणिका थी, उसकी माँ और उसकी माँ भी गणिका थी। मैं भी हूँ और तुझे भी वही करना पड़ेगा। हमें अपने रूप, यौवन और कला से ग्राहकों को रिझाना पड़ता है। उनकी सेवा ही हमारा गणिका-धर्म है।

कान्हू – "माँ, ऐसे धर्म को मैं नहीं मानती और न कभी मान सकूँगी। यदि सेवा ही करनी हो, तो ऐसे महात्मा की करनी चाहिये, जो रूप-गुणों में मुझसे भी श्रेष्ठ हों।"

कन्या का यह नकारात्मक स्वर सुनकर माता आगे कुछ नहीं बोल सकी। वह समझ गयी कि कान्हो पात्रा एकमात्र ईश्वर के सिवा किसी की भी सेवा करना नहीं चाहती। वेश्या होकर भी वह थोड़ी समझदार थी। अत: श्यामा माता ने अपनी बेटी को उसकी इच्छा के अनुसार जीने का अधिकार दे दिया। उसे उसके सर्वोच्च लक्ष्य से नीचे खींचने का पाप माता ने नहीं किया। इसके बाद श्यामा ने कान्हो पात्रा को किसी बात में कभी टोका नहीं। एक गणिका के चिन्तन में यह महानता देखकर हमें आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है।

*** गृहत्याग ***

एकादशी, मंगल का दिन था। कान्हो पात्रा छत पर बैठी भजन गा रही थी। इतने में उसने मँजीरे और पखावज की धुन सुनी। उसने झुककर देखा – पण्ढरपुर जानेवाले यात्रियों का जुलूस जा रहा था। कान्हो पात्रा दौड़ती हुई नीचे गयी और लोगों के चरण छूने लगी। वह उनसे बड़ी उत्सुकता के साथ पूछने लगी – "बाबा, आप लोग पण्ढरपुर जा रहे हैं?"

– "हाँ, माई! हम वहाँ अपने प्राणप्रिय सखा श्री पाण्डुरंग से मिलने जा रहे हैं।"

यह सुनते ही कान्हो पात्रा का शरीर रोमांचित हो उठा। पाण्डुरंग से मिलने के सुख की कल्पना से उसने क्षण भर के लिये आँखें मूँद लीं। इसके बाद उसने यात्रियों से पूछा –

– "क्या मैं भी आप लोगों के साथ चल सकती हूँ?"

– "हाँ माई। अवश्य!"

– "लेकिन श्री पाण्डुरंग क्या मुझ जैसी नीच गणिका को स्वीकार करेंगे?"

– "क्यों नहीं करेंगे? क्या पिंगला गणिका नहीं थी? उसे तो भगवान ने स्वीकार किया। इतना ही नहीं, उसका उद्धार भी किया। बेटी, पवित्र हो या पापी, हर कोई भगवान के द्वार पर जाने का अधिकारी है। सभी लोग तो उन्हीं की सन्तान हैं। फिर तुम्हें इसमें दिक्कत ही क्या है?"

– "बाबा, तनिक ठहरिये।" ऐसा कहते हुए कान्हो पात्रा भागती हुई अन्दर गयी। माता के सामने उसने पण्ढरपुर जाने का प्रस्ताव रखा। माँ बचपन से ही उसे देख रही थी। रूप-यौवन-सम्पन्न, कलावती गणिका होकर भी कान्हो पात्रा को ऐहिक ऐश्वर्य या सुख पाने की लेश मात्र भी इच्छा नहीं थी।

उसका मन सदा भक्ति-साम्राज्य में ही लीन रहता था। माँ श्यामा ने सोचा – "जो जहाँ की चीज है, उसे वहीं भेजना उचित है। शायद कोठा छोड़ने से ही उसके पवित्रता की रक्षा हो।" ऐसा सोच उसने इस धरोहर को उसके स्वामी के पास जाने का रास्ता खोल दिया। उसने यह काम जितनी समझदारी से किया, शायद ही अन्य कोई माता वैसा कर पाती।

*** भगवान विठ्ठल के दर्शन ***

यात्रियों की टोली के साथ चलते-चलते कान्हो पात्रा पण्ढरपुर जा पहुँची। मन्दिर के महाद्वार पर खड़ी होकर वह भगवान का रूप निहारने लगी। उसके शरीर से सुख और आनन्द की अगणित लहरें दौड़ने लगीं। अर्ध चेतना की दशा में दौड़कर उसने भगवान के सामने अपना सिर टेक दिया। उस समय अनुभव की हुई भावनाओं का वर्णन कान्हो पात्रा ने अपनी पद्य-रचनाओं में इस प्रकार किया है –

जन्मांतरीचे सुख आजि फलासी आले।
म्हणोनी देखिले विठ्ठल चरण ।।

अर्थ – अपने अनेक जन्मों के पुण्य का फल आज मैंने पाया है, जो मैं भगवान विठ्ठल के चरण देख रही हूँ।

धन्य भाग आजि डोलीया लाधले। म्हणोनी.।।

अर्थ – मेरे नेत्रों का आज बड़ा सौभाग्य है, जो उन्हें श्री विठ्ठल के चरण देखने को मिले।

धन्य चरण माझे या पंथी चालिले। म्हणोनी.।।

अर्थ – मेरे चरण धन्य हैं, जो उन राहों पर चले, जिससे मुझे भगवान विठ्ठल के इन चरणों के दर्शन हुए।

येऊनी देहासि धन्य झाले। म्हणोनी.।।

अर्थ – यह देह जो मिला है, उसका फल मैंने आज पाया, जो मुझे विठ्ठल के चरणों के दर्शन हुए।

घाली गर्भवासा कान्हो पात्रा म्हणे।
जन्मो जन्मी देखेन विठ्ठल चरण ।।

अर्थ – कान्हो पात्रा कहती हैं, हे प्रभो, तू मुझे बारम्बार गर्भवासी बनाते रहना, ताकि मैं हर जन्म में अपने विठ्ठल के चरण देखती रहूँ।

कान्हो पात्रा आनन्दविभोर होकर पण्ढरपुर में ही रहने लगी। प्रतिदिन चन्द्रभागा नदी में स्नान करना, श्री पाण्डुरंग के दर्शन करना, उसके सामने भजन गाना और मन्दिर में अन्य प्रकार की सेवा करना – यही उसका जीवन-क्रम बन गया। वह अपना घर-बार, माता आदि सब कुछ भूल गयी। वह ईश्वर के चिन्तन और ध्यान में अतीव सुख का अनुभव करने लगी। अपने सौन्दर्य का बोध तो उसे कभी था ही नहीं, और अब वह पूर्ण विरागी की अवस्था में रहने लगी। वह अपना समय अब सन्त-समागम, तीर्थयात्रा आदि में ही व्यतीत करने लगी। तीर्थयात्रा करते हुए वह आलन्दी क्षेत्र में पहुँची। वहाँ उसने श्री ज्ञानेश्वर महाराज की समाधि के दर्शन किये। वहाँ कान्हो पात्रा ने अपनी एक पद्य रचना में श्री ज्ञानेश्वर महाराज के चरित्र का वर्णन इस प्रकार किया है –

शिव तो निवृत्ती विष्णु ज्ञानदेव।
सोपान तो ब्रह्म गूल माया मुक्ताबाई ।।
धन्य मुक्ताई धन्य निवृत्तीराया।
धन्य ज्ञानदेव सोपान सक्ष्या ।।

अर्थ – श्री ज्ञानेश्वर महाराज स्वयं विष्णु हैं, उनके ज्येष्ठ भ्राता निवृत्तिनाथ स्वयं शिव हैं, कनिष्ठ भ्राता सोपानदेव ब्रह्माजी के अंश हैं और बहन मुक्ताबाई साक्षात् माया-स्वरूप हैं। अतः ये चारों भाई-बहन धन्य हैं।

प्रत्यक्ष पैठणी भटा दाविली प्रचीती।
रेडियाचे मुखी वदवीली वेदश्रुती ।।

अर्थ – हे ज्ञानेश्वर महाराज, आपने पण्डितों की नगरी पैठण में ही अपनी योग्यता के प्रमाण प्रस्तुत करते हुए एक भैंसे के मुख से वेदों की श्रुतियाँ कहलवायीं।

वह घटना इस प्रकार है – ज्ञानेश्वर महाराज के पिता एक संन्यासी थे। फिर गुरु की आज्ञानुसार उन्हें एक बार पुनः गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना पड़ा। उसके उपरान्त ही उनकी इन सन्तानों का जन्म हुआ था। परन्तु समाज ने इस परिवार का बहिष्कार कर दिया। माता-पिता ने ब्राह्मणों के द्वारा निर्धारित देहत्याग का आदेश स्वीकार करके आत्माहुति दे दी। इसके उपरान्त भी जब पैठण के पण्डितों ने अपना निर्णय दिया, "संन्यासी की सन्तानों को वेदपाठ का अधिकार नहीं दिया जा सकता।" श्री ज्ञानेश्वर महाराज ने कहा, "वेद तो ईश्वरप्रणीत हैं, उसमें प्रत्येक जीव को अधिकार है। और सामने से गुजर रहे एक भैंसे को लाकर उन्होंने उसी के मुख से वेद की श्रुतियों का उच्चारण करवाया। यह चमत्कार देखकर पण्डितों ने उनके चरण पकड़ लिये।

चौदाशे वरुषांचे तत्ती तीर रहीवासी।
गर्व हरविला चाल - विले भिंतीसी ।।

चौदह सौ वर्ष की आयुवाले योगी चांगदेव वटेश्वर नामक सिंह पर सवार होकर श्री ज्ञानेश्वर महाराज से मिलने आये। अपनी सिद्धियों का उन्हें बड़ा गर्व था। उस समय ज्ञानेश्वर महाराज अपने भाई-बहनों के साथ एक टूटी हुई दीवार पर बैठे थे। कहते हैं कि उस दीवार के साथ ही ने चारों आसमान में उड़े और दीवार के साथ ही चांगदेव के सामने उतरकर उनका स्वागत किया। दीवार जैसी अचेतन वस्तु में चैतन्य जगानेवाले श्री ज्ञानेश्वर महाराज की महानता देखकर चांगा योगी उनके चरणों में गिर पड़े।

धन्य कान्हो पात्रा आजि झाली भाग्याची।
भेटी झाली ज्ञानदेवाची म्हणूनीया ।।

अर्थ - आज इस कान्हो पात्रा के जनम-जनम के भाग्य

जागे हैं कि उसकी श्री ज्ञानदेव महाराज से भेंट हुई।

* जीव और शिव का मिलन *

तीर्थयात्रा से कान्हो पात्रा का मन अवर्णनीय आनन्द में डूब गया। उल्लास और सन्तोष के साथ वह पण्ढरपुर लौटी। प्रभु के साथ अपने भक्ति के साम्राज्य में वह इतनी मग्न थी कि बाहर की दुनिया मानो उनके लिये अदृश्य हो गई। तथापि दुनिया तो उसे खुली आँखों से देख रही थी। इतनी रूपवती स्त्री भला समाज की नजरों से कैसे बचेगी? उसके रूप-लावण्य की ख्याति चारों ओर फैल रही थी।

बीदर के सुल्तान ने उसके सौन्दर्य की ख्याति सुनी। उसके मन में कान्हो पात्रा को पाने की अभिलाषा जाग उठी। उसने पहले तो उसे आमंत्रण भेजा। परन्तु कान्हो पात्रा ने उसे अनसुनी कर दी। बादशाह ने स्वयं को अपमानित महसूस किया। वस्तुत: इस तरह का आमंत्रण भेजकर उसनें अपमान तो कान्हो पात्रा जैसी पवित्र भक्तिमती देवी का किया था, परन्तु अंहकार और वासना ने उसे अन्धा कर दिया था। बादशाह ने कान्हो पात्रा को बन्दी बनाकर हाजिर करने की आज्ञा दी। उसके सैनिक पण्ढरपुर आ धमके। कान्हो पात्रा ने राजा की आज्ञा सुनी। बादशाह की ताकत से टक्कर लेने की क्षमता किसी मर्द में भी नहीं थी, तो फिर कान्हो पात्रा जैसी अकेली स्त्री भला क्या करती? उसने सोचा – अब तो शरण लेने को एक ही जगह बची है – श्री विठ्ठल के चरण।

कान्हो पात्रा पागलों जैसी भागती हुई मन्दिर में पहुँची। वहाँ उसने अपनी अन्तिम पद्य रचना सुनाई –

पुरविली पाठ न सोडी खल।
अधम चांडाल पापराशी ।।
वारितां नायके दुष्ट दुराचार।
काय करु विचार पाण्डुरंगे ।।

अर्थ – यह दुष्ट बादशाह बड़ा ही अधम और पापी है। कितनी बार मना करने पर भी पीछे पड़ा है। तुम्हीं बताओ – अब मैं क्या करूँ।

तू माय माऊली जगाची जननी।
म्हणोनी मिठी चरणी घालीतसे ।।
विनवी कान्हो पात्रा जोडोनिया हात।
आता देहअंत समय आला ।।

अर्थ – हे पाण्डुरंग, तुम तो मेरी और सारे जग की माता हो। इसीलिये आज कान्हो पात्रा चरणों में गिरकर हाथ जोड़े विनती कर रही है – या तो मेरी रक्षा करो या प्राणान्त करो।

सिपाही जैसे ही मन्दिर के निकट आने लगे, कान्हो पात्रा विठ्ठल भगवान से अपने हृदय की बातें कहने लगी – तुम स्वयं को पतितों का उद्धार करनेवाले कहते हो, फिर अपने भक्तों के पीछे ऐसी बला क्यों लगा देते हो? जब एक बार मैं तुम्हारी दासी बन गयी हूँ, तो भला दूसरे किसी के साथ कैसे रह सकती हूँ। यदि ऐसा हुआ, तो मेरे स्वामी होने के नाते उनका दोष तुम्हीं को लगेगा। क्या यह उचित होगा?

सिंहाचे मातुके जंबकू पै नेता
थोराचिया माथा लाज वाटे ।।

अर्थ – सिंह का हिस्सा अगर सियार ले भागा, तो इसमें सिंह का सिर शर्म से झुक जाना चाहिये।

पवित्रता की रक्षा इस व्रत को निभाने के लिये अब इस कान्हो पात्रा ने आत्म-समर्पण की तैयारी की। शील-रक्षण के लिये कान्हो पात्रा यह परीक्षा करने को उठ खड़ी हुई। उसने अपने अन्तिम पद में कहा –

मोकलूनी आस, जाहले उदास।
घेई कान्हो पात्रेस हृदयास हृदयास ।।

अर्थ – इस माया की सारी आसा को छोड़ अब मैं उदास हो गई हूँ। अब तो तू ही मुझे – कान्हो पात्रा को अपने हृदय से लगा ले! प्रभो, मुझे अपने हृदय से लगा ले!

ऐसा कहते हुए कान्हो पात्रा श्री विठ्ठल भगवान के चरणों में गिर पड़ी। उसकी प्राण-ज्योति श्री विठ्ठल के तेजो-वलय में समा गयी। कान्हो पात्रा का देह निर्जीव हो गया। वेश्या होकर भी उसने जो निष्ठा दिखाई, जिस प्रकार प्राण देकर भी शील-रक्षण किया, इससे उसका यश-कीर्ति सन्तों की मालिका में अजर-अमर हो गयी।

बाद में वहाँ की भक्त-मण्डली ने मन्दिर के दक्षिणी द्वार पर उसके शरीर को समाधि दी। उसी स्थान पर बाद में एक वृक्ष पैदा हुआ। भक्तों द्वारा बनवायी हुई कान्हो पात्रा की मूर्ति अब भी उसी वृक्ष के नीचे दीख पड़ती है।

* कान्हो पात्रा का सन्देश *

इतिहास ने कई बार यह सिद्ध किया है कि स्त्री का रूप-लावण्य उसके प्राणनाश का कारण बन सकता है। रानी पद्मिनी ने भी दिखाया कि वही सौन्दर्य अपनी शील-रक्षा के लिये बलिदान भी कर सकता है। ऐसी कई स्त्रियों के उदाहरण हमें मिलते हैं, जिन्होंने शीलरक्षा के लिये अपने प्राणों का बलिदान कर किया। परन्तु वे सब ललनाएँ कुलीन थी। शील-रक्षण उनका संस्कार था, धर्म था। और कान्हो पात्रा एक गणिका थी, तथापि उसने अपने जीवन में जो पवित्रता तथा शुचिता दिखाई, वह बेमिसाल है। ईशनिष्ठा के लिए किया हुआ उसका यह बलिदान अभूतपूर्व है। उसने मानवीय जीवन के उदात्त आदर्शों की गरिमा बढ़ाई है। कान्हो पात्रा का जीवन निश्चित रूप से एक गणिका द्वारा समाज को दिया हुआ यह एक महान् सन्देश है। ❑❑❑

माँ सारदा और भारतीय लोकतंत्र
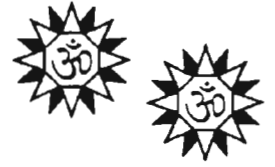
स्वामी रंगनाथानन्द

तत्कालीन अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ तथा मिशन, बेलूड़ मठ, हावड़ा

(बेलूड़ मठ में आयोजित माँ सारदा की १५०वीं जयन्ती समारोह के समापन के अवसर पर ४ जनवरी, २००५ को महाराज ने अंग्रेजी में यह अत्यन्त प्रेरक व्याख्यान दिया था। 'विवेक ज्योति' के पाठकों के लिये इसका हिन्दी अनुवाद स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है। – सं.)

मित्रो और भक्तवृन्द ! आज हम लोग माँ सारदा देवी की १५०वीं जयन्ती मना रहे हैं। आज, कल और परसों अनेकों वक्ता 'श्रीमाँ के जीवन और सन्देश' के विभिन्न पक्षों पर अपने-अपने विचार व्यक्त करेंगे। श्रीमाँ का जीवन और उससे हमें जो सन्देश मिलता है – इस विषय पर कुछ कहते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

एक बात ध्यान देने योग्य है – आज हमारा देश स्वाधीन है। हमारे यहाँ लोकतंत्रीय शासन-पद्धति स्वीकृत है। लोकतंत्र का तात्पर्य है – साधारण जनता भी उच्च वर्गीय लोगों के समान है, उनमें कोई भेद नहीं है, इसलिये इस युग में हमें एक नवीन एकतामूलक दृष्टिकोण की आवश्यकता है। हम सभी एक ऐसे स्वाधीन लोकतंत्र के नागरिक हैं, जिसमें जाति और पन्थ का कोई भेद-भाव नहीं हैं। श्रीमाँ के जीवन में आपको यह अद्‌भुत विकास परिलक्षित होगा। वे अमेरिकी तथा अंग्रेज ईसाइयों को भी स्वीकार कर सकती थीं, उनके साथ रह सकतीं थीं, भोजन कर सकती थीं। यद्यपि श्रीमाँ का जन्म एक अत्यन्त पारम्परिक कुलीन ब्राह्मण परिवार में हुआ था, तथापि वे इन भेद-भावों के ऊपर उठकर एक लोकतांत्रिक दृष्टिकोण से आचरण कर सकती थीं। इंग्लैंड की मिस मार्गरेट नोबल (भगिनी निवेदिता), अमेरिका की क्रिस्टिन ग्रीनस्टाइडल, श्रीमती सारा बुल तथा जोसेफिन मैक्लाउड – इन सभी को श्रीमाँ ने स्वीकार किया था। इन सबने माँ के साथ बैठकर भोजन भी किया था। उन्होंने एक मुस्लिम लड़के (अमजद) की भी बड़े स्नेहपूर्वक देखभाल की थी। उसे खिलाने के बाद उसका जूठन उन्होंने स्वयं उठाया था। कैसी अद्‌भुत बात है ! एक कुलीन ब्राह्मण-परिवार में जन्म लेकर, बिना कोई औपचारिक शिक्षा प्राप्त श्रीमाँ के जीवन में ऐसी विभिन्न घटनाएँ हुईं – भारत के लिये इन सबका बड़ा महान् तात्पर्य है।

हमारे देश को एक अजीब रोग है, उच्च तथा निम्न वर्गों के बीच भेद-भाव रूप इस रोग को 'अस्पृश्यता' कहते हैं। यह भारत को बरबाद करता रहा है। अब सभी लोगों को एक समान बनाने का समय आ गया है। अन्ततः यह समानता अवश्य आयेगी। श्रीमाँ, स्वामीजी और श्रीरामकृष्ण ने अपने जीवन में इसे दिखा दिया है। मनुष्य-मनुष्य के बीच, पुरुष और नारी के बीच इस प्रकार की समानता हो – ऊँची और निम्न जातियों के बीच कोई भेद न हो। लोकतंत्र भी प्रत्येक व्यक्ति को केवल एक ही 'मत' के अधिकार द्वारा इसी बात पर बल देता है कि कोई उच्च और कोई निम्न नहीं है। लोकतंत्र आम जनता के लिये है – और लोकतंत्र की दृष्टि में सभी लोग आम जनता ही हैं।

आज हम लोग यह उत्सव मना रहे हैं। श्रीमाँ की १५०वीं जयन्ती से प्रारम्भ करके अगली शताब्दी तक हमें भारत में पूर्ण लोकतंत्र की स्थापना में सक्षम होना चाहिये। श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ और स्वामीजी ने हमें सन्देश दिया है कि हमें सभी मनुष्यों के साथ समान व्यवहार करना होगा और भारत से जातिवाद तथा अस्पृश्यता को पूर्णरूपेण दूर कर देना होगा। और आप देख रहे हैं कि हमारे अपने जीवन-काल में ही धीरे-धीरे ऐसा हो रहा है।

सम्भवामि युगे युगे – गीता कहती है कि जब-जब अधर्म बढ़ता है, तब-तब नवधर्म या *कालधर्म* की स्थापना हेतु ईश्वर अवतार लेते हैं। इस बार श्रीरामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द तथा श्रीमाँ सारदा देवी को साथ लेकर अवतरित हुए हैं। और इसके फलस्वरूप भारत में सर्वांगीण रूप में वास्तविक मानवीय विकास हो रहा है। यदि इन उपदेशों को सम्पूर्ण भारत में क्रियान्वित किया जाय, तो मैं आशा करता हूँ कि इस शताब्दी के दौरान ही भारत से अस्पृश्यता और जातिवाद के दूषित कलंक को हटाने की सबल प्रक्रिया आरम्भ हो जायेगी। विगत शताब्दियों के दौरान हमें बताया गया कि सभी विदेशी लोग म्लेच्छ हैं, जबकि स्वामीजी ने अपने जीवन का काफी समय अमेरिका और इंग्लैंड में बिताया। स्वामीजी एक जगह कहते हैं – "उसी दिन भारत का भाग्य अवरुद्ध हो गया था, जिस दिन उसने *म्लेच्छ* शब्द का आविष्कार किया और विश्व के अन्य देशों से मेलजोल बन्द कर दिया।" अब इस म्लेच्छ-भाव का विनाश कर देना होगा – म्लेच्छ-भाव अब नहीं चाहिए। वस्तुतः आज हमारे हजारों छात्र अमेरिका और इंग्लैंड में अध्ययन कर रहे हैं।

श्रीमाँ का जीवन एक महान् दृष्टान्त है। उनका व्यक्तित्व दैवी है। पूर्णतः अशिक्षित होकर भी उन्होंने दिखाया कि हमें विदेशी लोगों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए। एक

अन्य विचारणीय विषय है – श्रीमाँ का फोटोग्राफ। उनके इन चित्रों को खिंचवाने की व्यवस्था किसने किया? बॉस्टन की एक महिला श्रीमती सारा बुल ने श्रीमाँ से उनका चित्र खिंचवाने की अनुमति माँगी। पहले-पहल तो माँ ने अनुमति नहीं दी। परन्तु जब बहुत आग्रह के साथ श्रीमती बुल ने कहा – "आपका चित्र मैं अमेरिका ले जाकर आपकी पूजा करना चाहती हूँ।" इस पर माँ धीरे-धीरे सहमत हुईं। श्रीमती सारा बुल द्वारा लिये गये जितने भी विभिन्न चित्र आप पाते हैं, उन सभी में हम श्रीमाँ को बैठी हुई देखते हैं। एक चित्र में हम देखते हैं कि एक ओर श्रीमाँ बैठी हैं और दूसरी ओर भगिनी निवेदिता बैठी हुई हैं। यह एक बड़ा सुन्दर चित्र है। श्रीमाँ के इस चित्र को देखकर हमें आनन्द होता है और यह चित्र सर्वत्र प्रचारित हो रहा है। यह चित्र प्राच्य और पाश्चात्य की एकता का प्रतीक है। इस प्रकार हमारे लोकतंत्र को सुदृढ़ होना चाहिये। इस दृष्टि से बड़ी ही दयनीय अवस्था में है, क्योंकि २००० वर्षों से भी अधिक काल से हम लोगों में किसी-न-किसी प्रकार की अस्पृश्यता, जातिवाद आदि फैली हुई है।

इसलिये हम लोगों के लिए – सम्पूर्ण भारत के सभी लोगों के लिये श्रीमाँ का जीवन एक महान् दृष्टान्त है। गीता कहती है – महान् लोग जैसा आचरण करते हैं, अन्य सभी उसी का अनुसरण करते हैं। भारत के ब्राह्मण और अन्य उच्च शिक्षित वर्ग के लोग भी यदि स्वयं में परिवर्तन लायें और अस्पृश्यता को रोकने का प्रयास करें, तो अन्य लोग भी इसका अनुसरण करेंगे। गीता में यही उपदेश है –

यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।। ३/२१

गीता के तीसरे अध्याय के उपरोक्त श्लोक में आप यही पायेंगे – "महान् लोग जो कुछ भी करते हैं, उनसे छोटे लोग उसी का अनुसरण करते हैं।"

यदि हम लोग ऐसा करें, तभी हमारा आज का लोकतंत्र सार्थक होगा। राजनीति और भाषा के क्षेत्र में यह पहले ही आ चुका है। हर व्यक्ति को एक ही वोट देने का अधिकार है। चाहे कोई अस्पृश्य हो या आदिवासी हो, और चाहे कोई भारत के उच्च वर्ण का ब्राह्मण या क्षत्रिय ही क्यों न हो, सबको एक ही वोट देने का अधिकार है। हमारे लोकतांत्रिक संविधान ने पहले से ही भारत में मानवीय समता की स्थापना कर दी है। इसके परिणाम-स्वरूप आप भविष्य में काफी कुछ होते हुए देख सकते हैं। इस नवीन लोकतंत्र की यही शक्ति है – प्रत्येक को एक ही वोट का अधिकार है, चाहे नौकर हो, या मालिक, सबको एक ही वोट, दो नहीं।

श्रीमाँ का जीवन प्रचारित होगा। श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ और स्वामीजी के जीवन तथा सन्देश भारत की आगामी अनेक पीढ़ियों को प्रेरणा देते रहेंगे। इस तरह हम भारत में सद्भाव तथा शान्ति स्थापित करेंगे और प्रत्येक मनुष्य का सम्मान करेंगे। उपनिषद्, गीता और भागवत में हमारे आचार्य कहते हैं कि ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में निवास करते हैं। गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं –

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः । १०/२०

– 'हे अर्जुन! मैं सभी प्राणियों के हृदय में रहता हूँ।

यदि सभी प्राणियों के हृदय में ईश्वर हैं, तो फिर लोगों के बीच आपसी भेद-भाव क्यों होगा? हम केवल सामाजिक भेद-भाव, कृत्रिम भेद-भाव करते हैं, इन्हें जाना होगा। व्यक्ति के सर्वोच्च आन्तरिक तत्त्व पर आधारित सत्य को प्रकट करना होगा। हम लोग सभी प्राणियों के हृदय में निवास करनेवाले ईश्वर के साथ अभिन्न हैं। मुझे विश्वास है कि श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ तथा स्वामीजी के जीवन द्वारा प्रदर्शित वेदान्त की ये शिक्षाएँ सभी भारतवासियों और विदेशियों को को भी प्रेरित करेगीं। ऐसा निश्चय ही होगा।

आज मैं इस महती सभा में उपस्थित होकर अत्यन्त आनन्दित हूँ, जिसमें भाग लेने सम्पूर्ण भारत से लोग आये हुए हैं। अगले वक्ता स्वामी गहनानन्द जी श्रीमाँ के जीवन और उनके सन्देश तथा उपदेशों पर और भी विचार प्रस्तुत करेंगे। मैं आप सभी को इस समारोह में उपस्थित होने के लिये धन्यवाद देता हूँ। मैं इसमें भाग लेकर प्रसन्न हूँ और मुझे विश्वास है कि अगले कुछ दिनों के दौरान हम महान् प्रेरणा प्राप्त करेंगे। जब आप लोग घर लौटें, तो अपने साथ इस प्रेरणा को भी ले जायँ। अस्पृश्यता का उन्मूलन करें। इसी से लोकतंत्र सबल होगा और वेदान्तिक भारत का उदय होगा। स्वामी विवेकानन्द यही चाहते थे। वेदान्त कहता है – हम सभी एक हैं। मैं आत्मा हूँ – **'अहं ब्रह्मास्मि'** – यह सभी प्राणियों पर लागू होता है।

आप सबको धन्यवाद। नमस्कार।

❑❑❑

जयपुर में दो सप्ताह

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९३ ई. में अमेरिका के शिकागो नगर में आयोजित सर्व-धर्म-महासभा में पहुँचकर अपना ऐतिहासिक व्याख्यान देने के पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने एक अकिंचन परिव्राजक के रूप में उत्तरी-पश्चिमी भारत का व्यापक भ्रमण किया था। इस लेखमाला में प्रस्तुत है – विविध स्रोतों से संकलित तथा कुछ नवीन तथ्यों से संबलित उनके राजस्थान-भ्रमण तथा वहाँ के लोगों से मेल-जोल का रोचक विवरण। – सं.)

स्वामीजी के जीवनीकार-गण बताते हैं कि जयपुर में स्वामीजी मात्र दो सप्ताह ठहरे थे। वहाँ उनका यह निवास सम्भवतः ३१ मार्च से १३ अप्रैल १८९१ ई. तक हुआ था। युगनायक विवेकानन्द (खण्ड १, प्रथम सं., पृ. २७८-७९) ग्रन्थ के मतानुसार – जयपुर में वे कहाँ ठहरे थे, इस विषय में ठीक-ठीक कुछ कह पाना कठिन है, परन्तु उनका जयपुर राज्य के प्रधान सेनापति सरदार हरिसिंह के साथ घनिष्ठ परिचय हो गया था।

यहाँ स्मरणीय है कि स्वामीजी के अलवर-प्रवास के दौरान वहाँ के अधिकांश प्रमुख नागरिक तथा राजकीय अधिकारी स्वामीजी के साथ घनिष्ठ रूप से परिचित हो गये थे। वर्तमान लेखक का अनुमान है कि उन लोगों को जब ज्ञात हुआ कि स्वामीजी गर्मियों के दिन बिताने जयपुर तथा अजमेर के मार्ग से आबू पहाड़ जा रहे हैं, तो उन लोगों ने उस ओर के (यथा जयपुर, किशनगढ़, अजमेर, पुष्कर तथा माउंट आबू आदि) विभिन्न स्थानों के लिए अपने मित्रों तथा परिचितों के नाम स्वामीजी के लिए परिचय-पत्र दे दिये थे। (इसके संकेत आगे यथास्थान मिलेंगे)। फिर अलवर के एक भक्त स्वामीजी के साथ जयपुर तक आये भी थे। वर्तमान लेखक का अनुमान है कि अलवर के दीवान या किसी अन्य महत्त्वपूर्ण अधिकारी के परिचय-पत्र के साथ अलवर के उस भक्त ने ही स्वामीजी के जयपुर के प्रधान सेनापति सरदार हरिसिंह लाडखानी के निवास पर ठहरने की व्यवस्था की थी और स्वामीजी का फोटो निकलवाने के बाद वह वापस अलवर लौट गया था।

सरदार हरिसिंह लाडखानी : एक परिचय

जयपुर के प्रधान सेनापति सरदार हरिसिंह लाडखानी का स्थान रामकृष्ण-भावधारा के इतिहास में चिर अविस्मरणीय रहेगा, क्योंकि ये न केवल परिव्राजक स्वामी विवेकानन्द के घनिष्ठ सम्पर्क में आये, अपितु उनके और भी कई गुरुभ्राताओं तथा शिष्यों, यथा – स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी तुरीयानन्द, स्वामी अखण्डानन्द, स्वामी अभेदानन्द, स्वामी निर्मलानन्द और स्वामी सारदानन्द ने भी उनका आतिथ्य स्वीकार किया था। सविस्तार विवरण कालक्रम से यथास्थान दिया जायेगा। सरदार हरिसिंह का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

पं. झाबरमल शर्मा के 'खाटू श्यामजी का इतिहास', पृ. २९-३०, 'राजस्थान में स्वामी विवेकानन्द', भाग १, पृ. १५०, तथा 'आदर्श नरेश' ग्रन्थ (पृ. ३७) के अनुसार – सरदार लाडखा के वंशजों का लाडखानी उपनाम हुआ। इनके पूर्वजों को खेतड़ी से निराधनू की जागीर मिली थी और जयपुर से खाटू भी स्थायी पट्टे पर ले लिया था। स्मरणीय है कि इस खाटू में ही सुप्रसिद्ध श्यामजी का मन्दिर स्थित है। इसी वंश के रामवक्ष सिंह राजा अजितसिंह के परम विश्वासपात्र थे। और सौभाग्यसिंह खेतड़ी राज्य में महा-प्रबन्धक भी रहे। सरदार हरिसिंह इन्हीं सौभाग्य-सिंह के पुत्र थे। कुछ काल तक वे खेतड़ी में राजा अजितसिंह के पास वहाँ के विदेश-विभाग के अधिकारी और राजा के पर्सनल स्टाफ – वैयक्तिक सहचरों में एक थे। उसके बाद उनके जयपुर आने पर वहाँ के (प्रधानमंत्री) बाबू कान्तिचन्द्र मुखर्जी ने उनकी योग्यता पर सन्तुष्ट होकर उन्हें जयपुर का प्रधान सेनापति बना दिया। बड़ी अवस्था में भी वे नियमित व्यायाम करते थे, स्फूर्तिवान थे और उन्होंने ८५ साल की लम्बी आयु पायी थी।

जयपुर की दिनचर्या

सरदार हरिसिंह के बँगले पर निवास के दौरान वे वहाँ समागत लोगों के साथ धर्म तथा शास्त्रों के विभिन्न विषयों पर धर्मचर्चा तथा सुबोध विवेचन किया करते थे। आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज आदि सुधारवादी आन्दोलनों के प्रभाव से उन दिनों मूर्तिपूजा एक विवादास्पद विषय बना हुआ था। स्वामीजी के अलवर-प्रवास के दौरान भी राजा मंगलसिंह ने इसी विषय पर शंका उठायी थी। यहाँ भी एक दिन 'मूर्तिपूजा' पर ही चर्चा चल निकली। हरिसिंह घोर निराकारवादी वेदान्ती थे और मूर्ति आदि में विश्वास नहीं करते थे। इस कारण उस दिन घण्टों वाद-विवाद होने के बावजूद वे अपना मत में कोई संशोधन करने को राजी न थे।

शाम को वे लोग स्वामीजी के साथ टहलने के लिए बाहर निकले। वे (त्रिपोलिया बाजार के पास?) राजपथ के फुटपाथ से होकर चल रहे थे, तभी उन लोगों ने देखा कि भक्तों की एक टोली भजन-कीर्तन गाते हुए श्रीकृष्ण की प्रतिमा के साथ शोभायात्रा के रूप में जा रही है। स्वामीजी ने सहसा हरिसिंह को छूकर कहा, "देखिए, देखिए, चैतन्य जीवन्त ईश्वर !!" इस पर हरिसिंह ने ज्योंही प्रतिमा की ओर देखा, त्योंही स्थिर भाव से खड़े हो गये और उनकी आँखों से आनन्द के अश्रु प्रवाहित होने लगे। बाद में चेतना की सहज अवस्था लौटने पर वे आश्चर्यपूर्वक बोले, "स्वामीजी, आज मेरी आँखें खुल गईं। घण्टों तर्क करके भी मैं जिस बात को नहीं समझ सका था, वह आपके स्पर्श मात्र से बोधगम्य हो गया। मुझे प्रतिमा में साक्षात् भगवान के दर्शन हुए।"

स्वामीजी जहाँ कहीं भी भक्तों के बीच बैठते, वहाँ मानो आनन्द का मेला लगा रहता। धर्मचर्चा के बीच-बीच में वे व्यंग्य-विनोद भी किया करते थे। फिर वे अनावश्यक रूप से तर्क-वितर्क करनेवालों को भी बड़ा मनोरंजक उत्तर देते थे। यहाँ भी एक दिन बड़ी रोचक घटना हुई। एक दिन वे कुछ लोगों के साथ बैठे धर्मचर्चा कर रहे थे। उसी समय उस क्षेत्र के एक प्रसिद्ध विद्वान् तथा प्रमुख सरदार पण्डित सूर्यनारायण उनका दर्शन करने आए। उस समय हिन्दू धर्म के अवतारवाद पर चर्चा चल रही थी। स्वामीजी जो बातें कह रहे थे, उसी का सूत्र पकड़कर पण्डितजी ने कहा – "स्वामीजी, मैं तो वेदान्ती हूँ। मैं अवतार पुरुषों की विशेष अलौकिक शक्तियों में विश्वास नहीं करता। पौराणिक अवतारों में भी मेरा विश्वास नहीं है। वेदान्त की दृष्टि से तो हम सभी ब्रह्म हैं। अवतार और मुझमें भला अन्तर ही क्या है?" स्वामीजी बोले, "आपकी बात बिल्कुल सत्य है। हिन्दू लोग तो मत्स्य, कूर्म, वराह आदि को भी अवतार मानते हैं। और आप कहते हैं कि आप भी अवतार हैं। तो जरा यह बताइये कि आप इनमें से कौन हैं?" सभा में उपस्थित सभी लोग ठहाका लगा उठे और पण्डितजी लज्जित व मौन रह गए।

पाणिनीय व्याकरण सीखना

सम्भवत: सरदार हरिसिंह के निवास पर ही स्वामीजी का जयपुर के एक प्रसिद्ध विद्वान् के साथ परिचय हुआ। इसके पूर्व वराहनगर मठ में भी वे पाणिनि का अध्ययन कर रहे थे। सुयोग देखकर स्वामीजी ने उनसे पाणिनि का अष्टाध्यायी व्याकरण पढ़ना आरम्भ किया। पण्डितजी इस विषय के प्रकाण्ड विद्वान् तो थे, परन्तु विषय को सुबोध बनाकर पढ़ाने की कला में पारंगत न थे। फलत: तीन दिनों तक लगातार प्रयास करके भी वे पाणिनी के प्रथम सूत्र का भी पातंजल-भाष्य नहीं समझ सके। हार मानकर चौथे दिन वे बोल उठे, "स्वामीजी, जब तीन दिनों में भी मैं आपको प्रथम सूत्र का ही अर्थ नहीं समझा सका, तो लगता है कि मुझसे आपको कोई विशेष लाभ नहीं होगा।" इस पर लज्जित होकर स्वामीजी ने दृढ़ संकल्प किया कि चाहे जैसे भी हो वे स्वप्रयास से ही भाष्य को समझेंगे और जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक वे अन्यत्र कहीं भी मनोनियोग नहीं करेंगे। ऐसा संकल्प करके वे एकान्त में स्वाध्याय करने बैठे। पण्डितजी जो पाठ तीन दिनों में नहीं समझा सके थे, स्वामीजी ने अपनी एकाग्रता के बल पर उसे तीन घण्टों में ही जान लिया। थोड़ी देर बाद वे उस पाठ की व्याख्या के समीक्षार्थ पण्डितजी के पास गये। उनकी मौलिक, सरल तथा गूढ़ तर्कपूर्ण व्याख्या सुनकर पण्डितजी विस्मित रह गए। तदुपरान्त स्वामीजी सहज भाव से सूत्र-पर-सूत्र पढ़ते गये। और इस प्रकार जयपुर के अपने दो सप्ताह के प्रवास के दौरान उन्होंने अष्टाध्यायी के कुछ अंशों का अध्ययन किया था।

इस घटना के प्रसंग में किसी के द्वारा सन्देह व्यक्त किये जाने पर स्वामीजी ने बताया था, "योगी के लिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आत्मा की सारी शक्तियाँ केन्द्रित करके उसका किसी एक विषय पर प्रयोग करने से त्रिलोक में ऐसा कोई रहस्य नहीं है, जो अवगत न हो सके!" इसी सन्दर्भ में एक बार उन्होंने कहा था, "मन में प्रबल आग्रह हो तो सब कुछ सम्भव हो जाता है, यहाँ तक कि पर्वत को भी चूर्ण-विचूर्ण करके धूल-कणों में बदला जा सकता है।"

संसारचन्द्र सेन

पं. झाबरमल्ल शर्मा लिखित 'राजस्थान में स्वामी विवेकानन्द' ग्रन्थ (भाग १, पृ. १५०-५१) के अनुसार बाबू संसारचन्द्र सेन (१८४६-१९०९) का जन्म बंगाल के चौबीस परगना जिले के नाटाजोड़ ग्राम में एक उच्च वैद्यकुल में हुआ था। आगरा कॉलेज में शिक्षा पाने के बाद वे जयपुर के महाराजा कॉलेज में प्राध्यापक नियुक्त हुए। बाद में वे जयपुर के ही राजपूत स्कूल के हेडमास्टर हुए। वहाँ उनके छात्रों में जयपुर के परवर्ती महाराजा भी थे। सिंहासन प्राप्त होने पर महाराजा ने उन्हें अपना निजी सचिव बना लिया। बाद में बाबू कान्ति चन्द्र मुखर्जी के निधनोपरान्त वे जयपुर राज्य के प्रधानमंत्री भी बने। इनके छोटे भाई हेमचन्द्र सेन दिल्ली में रहते थे। 'विश्वपथिक विवेकानन्द' (पृ. ५४४) की पाद-टिप्पणी के अनुसार उनके पुत्र श्री अविनाशचन्द्र सेन भी जयपुर राज्य में एक मंत्री थे। इन्हीं की पुत्री प्रसिद्ध कथाकार श्रीमती ज्योतिर्मयी देवी ने 'जयपुरे स्वामी विवेकानन्द' शीर्षक से बँगला में एक लेख लिखा, जो १९६३ ई. में मासिक 'उद्बोधन' के 'विवेकानन्द शताब्दी विशेषांक' (पृ. २४४-४६) में प्रकाशित हुआ। बाद में यह लेख बँगला ग्रन्थ 'विश्वपथिक विवेकानन्द' (पृ. ५४३-४६) में भी संकलित हुआ है। इसमें लेखिका ने जो कुछ बताया है, उसमें से मुख्य बातें इस प्रकार हैं –

"स्वामीजी के जयपुर जाने की बात मैंने केवल कानों से ही सुनी है – पिताजी से, चाचाजी से, बुआ से और माँ से। स्वामीजी के जयपुर जाने की घटना लगभग ७० वर्ष पूर्व हुई थी और मेरा तब तक जन्म भी नहीं हुआ था। ... बहुत दिनों बाद मैंने माँ से पूछा था, 'माँ, क्या तुमने स्वामीजी को देखा है?' ... माँ से सुना – उस समय उनकी आयु १६-१७ साल की रही होगी। ... उन दिनों फूस का एक दालान ही उनके घर का बैठकखाना था। उसी कमरे में स्वामीजी बैठे थे। माँ, दादी, बुआ तथा घर की अन्य महिलाओं ने पास के ही एक कमरे में परदे के पीछे बैठकर उन विश्वविख्यात संन्यासी का दर्शन किया था और उनके मुख से कुछ भजन भी सुने थे। इन भजनों के बारे में ही उन्होंने (माँ) बताया – वह गिरीशचन्द्र द्वारा रचित 'बुद्धचरित' (नाटक) का भजन था – 'जुड़ाइते चाइ, कोथाय जुड़ाइ'' (भावार्थ – मैं शीतल होना चाहता हूँ, कहाँ मिलेगी वह शीतलता ! किधर से आता हूँ और किधर बह जाता हूँ ! लौट-लौटकर आता हूँ, न जाने कितना रोना-हँसना करता हूँ, फिर कहाँ चला जाता हूँ – यही सोच रहा हूँ।' यह भजन काफी लम्बा था। स्वामीजी का कण्ठ जैसा (अद्‌भुत) था, भाव भी वैसे ही थे। और श्रोता एवं श्रोत्रीगण भी वह भजन और उस दिन की बातें आजीवन नहीं भूले। ... और भी दो-तीन भजन हुए थे – '(भावार्थ) आये कृष्ण, आये देखो, बाँसुरी बज उठी है, वे राधा के अभिलाषी हैं, उनकी बाँसुरी – 'राधा' को पुकार रही है। हे किशोरी, उठ, उठ; बाँसुरी तुझे ही बुला रही है !' यह भी गिरीशचन्द्र के ही 'चैतन्य-लीला' नाटक का गीत था। स्वामीजी ने एक भजन और भी गाया था – '(भावार्थ) व्यर्थ चले जायेंगे मेरे दिन, क्या यूँ ही हे नाथ ! आशा पथ पर दृष्टि बिछाये बैठा हूँ दिन-रात।'

"और कुछ बतानेवाला आसपास जीवित नहीं था। सहसा एक दिन सुना, एक बुआ कह रही थीं, उन्होंने अपनी माँ (मेरी दादी) से सुना था – उस समय हमारा मकान बना नहीं था। बैठकखाना एक झोपड़ी जैसे कमरे में था। संन्यासी गहरी रात को उसी में बैठे गा रहे थे –'(भावार्थ) माँ, घोर अन्धकार के बीच ही तेरा वह अद्‌भुत रूप चमकता रहता है।' सोचती हूँ – उस समय स्वामीजी उस मकान में क्या दो-एक दिन ठहरे थे? इतने दिनों के बाद यह बात मैंने माँ से पूछा। माँ बोली – 'तीन-चार दिन वे उसी मकान में थे और उन गृहस्वामी का नाम था संसारचन्द्र सेन।' "

स्वामी गम्भीरानन्द जी ने अपने 'युगनायक विवेकानन्द' (भाग १, पृ. २७९) में कुछ और भी जानकारी दी है, जो सम्भवत: उन्हें स्वयं लेखिका से ही प्राप्त हुई होगी, क्योंकि इसका उल्लेख अन्यत्र नहीं है। वे बताते हैं – "सेन महाशय के घर से जाते समय उन्होंने ज्योतिर्मयी देवी को गीतों की एक पुस्तक दी थी, जिसमें स्वरचित एवं स्वहस्त-लिखित कई गीत थे।" परन्तु यह पुस्तक या नोटबुक सम्भवत: वे उनकी दादीजी को दे गये होंगे, क्योंकि उपरोक्त लेख के अनुसार ही ज्योतिर्मयी देवी का तब जन्म ही नहीं हुआ था।

इसके सिवा उक्त लेख में जयपुर की घटनाओं का समय १८९० या १८९३ और आगे १८९२ या १८९३ बताया गया है। गम्भीरानन्द जी इसे १८९१ ई. में ही हुआ मानते हैं। फिर लेखिका ने स्वामीजी के जीवन की खेतड़ी में हुई 'नर्तकीवाली घटना' को भी जयपुर में ही होने की सम्भावना दिखायी है। पर घटनाओं के ७० वर्ष बाद इधर-उधर सुनी हुई बातों के आधार पर लिखे इस प्रबन्ध की हर बात को गम्भीरता से नहीं लिया जा सकता। उनके बँगले में स्वामीजी के ठहरने की सम्भावना नगण्य ही प्रतीत होती है। सम्भव है कि जयपुर-प्रवास के दौरान स्वामीजी का उनसे सम्पर्क हुआ हो और हो सकता है कि उनका निमंत्रण पाकर स्वामीजी उनके बँगले पर गये हों और वहाँ भोजन-भजन आदि भी किया हो, पर वहाँ निवास करने की बात किसी अन्य प्रामाणिक तथ्य द्वारा सत्यापित हुए बिना विश्वसनीय नहीं है।

जयपुर में गुरुभाई अखण्डानन्द

सत्येन्द्रनाथ मजुमदार अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'विवेकानन्द-चरित' (संस्करण १९७१, पृ. १७६) में लिखते हैं – "इधर स्वामी अखण्डानन्दजी स्वामी विवेकानन्दजी के विरह में कातर होकर उनकी खोज में निकल पड़े थे। जयपुर आकर उन्होंने सुना कि राजभवन में एक संन्यासी निवास कर रहे हैं, जो प्राच्य और पाश्चात्य दोनों दर्शनशास्त्रों में पारंगत हैं और अंग्रेजी तथा संस्कृत में धाराप्रवाह वार्तालाप कर सकते हैं। उन्होंने सोचा कि हो-न-हो ये स्वामीजी ही होंगे। उनके सिवा दूसरा कोई व्यक्ति हो ही नहीं सकता। निदान अखन्डानन्दजी ने उनसे साक्षात्कार किया। स्वामीजी ने उन्हें देखकर आनन्द प्रकट करना तो दूर रहा, बल्कि क्रुद्ध होकर तथा कुछ भय दर्शाकर कहा, 'तुमने मेरा पीछा करके अच्छा नहीं किया, शीघ्र ही इस स्थान को छोड़कर चले जाओ।' अखण्डानन्दजी दुखी अन्त:करण से जयपुर छोड़कर चले गये। उन्होंने मन-ही-मन सोचा, 'गुरुभाइयों के प्रति इस प्रकार निर्मम होने का अवश्य ही कोई महान् उद्देश्य होगा।' "

इसी प्रकार कुछ अन्य जीवनीकारों ने (यथा, अंग्रेजी में श्री शैलेन्द्रनाथ धर ने अपने The Comprehensive Biography of Swami Vivekananda, Ed. 1975, Vol 1, p. 308) लिखा है कि जयपुर में स्वामी अखण्डानन्द जी की उनसे भेंट हुई थी, पर यह बात सत्य नहीं है, क्योंकि स्वयं अखण्डानन्दजी ने अपनी बँगला 'स्मृतिकथा' (तृतीय सं., पृ. ६०-६४) में अपनी जयपुर-यात्रा के विवरण में इस बात का उल्लेख नहीं किया है। वस्तुत: वे ७-८ माह बाद जयपुर पहुँचे थे और

कालक्रम से यह प्रसंग कुछ बाद का है, तथापि उसका यहीं सविस्तार विवरण देना उचित होगा। पूर्वोक्त ग्रन्थ में वे लिखते हैं – "मैं स्वामीजी को खोजने जयपुर गया। जयपुर में गोपीनाथजी[१] के मन्दिर में सरदार चतुरसिंह के साथ मेरी भेंट हुई। उनसे समाचार मिला कि स्वामीजी खेतड़ी के राजा को शिष्य बनाकर वहाँ दो-तीन महीने निवास करने के बाद अजमेर गये हैं। मैं जयपुर-दर्शन के बाद अजमेर गया। वहाँ सुना कि स्वामीजी अहमदाबाद गये हैं। ... मैं सोचने लगा कि पैदल जाने से स्वामीजी को पकड़ा न जा सकेगा, पर ट्रेन से कैसे जाऊँ? संयोगवश किसी ने आठ आने में मेरे लिए ब्यावर का एक टिकट खरीद दिया। वहाँ जाकर सुना कि स्वामीजी आये तो थे, परन्तु वहाँ से अजमेर चले गये थे। ... ब्यावर से मैंने आबू की यात्रा की। ... आबू के द्रष्टव्य स्थानों को देखने के बाद मैंने अहमदाबाद की यात्रा की।" अखण्डानन्द जी के इस स्वलिखित विवरण से सिद्ध हो जाता है कि राजस्थान में वे स्वामीजी से मिल नहीं सके थे।

पण्डित झाबरमल्ल शर्मा स्वयं स्वामी अखण्डानन्द जी से मिले थे और उनसे बहुत-सी जानकारियाँ प्राप्त की थीं। उनका कहना है, "उनके अन्यतम गुरुभाई स्वामी अखण्डानन्द जी तलाश करते-करते जयपुर पहुँचे। जयपुर-स्थित **खेतड़ी-भवन से** उन्हें कुशल-संवाद के साथ स्वामीजी के चले जाने की सूचना मिली।"[२] फिर उन्हीं के एक अन्य लेख 'खेतड़ी में स्वामी विवेकानन्द और उनके गुरुभाई' के अनुसार, "स्वामीजी की तलाश में ही उनके गुरुभाई स्वामी अखण्डानन्दजी घूमते हुए जयपुर पहुँचे। ... सहता जयपुर में **चांदपोल के भीतर गोपीनाथजी के मन्दिर में** ठाकुर चतुरसिंहजी (मलसीसर) से मिलन हो गया। वे उन्हें ठाकुर हरिसिंहजी लाडखानी की हवेली में ले गये, जहाँ उनके ज्येष्ठ भ्राता श्रीमान् भूरसिंहजी भी थे। स्वामीजी का खेतड़ी पधारना, राजाजी से प्रीतिस्थापन आदि पूरा वृत्तान्त स्वामी अखण्डानन्द जी को मालूम हुआ।"[३]

फिर बँगला के 'प्रेमानन्द' ग्रन्थ में भी स्वामी अखण्डानन्द जी के कुछ संस्मरण एक वार्तालाप के रूप में विस्तार से लिपिबद्ध हुए हैं, जिनमें से कुछ का अनुवाद इस प्रकार है –

"किन्हीं सूत्रों से पता चला कि स्वामीजी जयपुर, अलवर, अजमेर आदि जायेंगे। उनके प्रति मेरा बड़ा प्रेम था। इसीलिए उनका संग पाने को मैं जयपुर गया। वहाँ मैं एक दादूपन्थी के अखाड़े में ठहरा। उस अखाड़े के पास ही खूब बड़े फाटकवाला एक लाल मकान था। भगवान की ऐसी महिमा है कि तभी सहसा मेरे मन में आया कि शायद इसी मकान में मुझे स्वामीजी का पता मिलेगा। सोचा कि श्री गोपीनाथजी के विग्रह का दर्शन करके लौटकर वहाँ पूछताछ करूँगा। यही सोचकर मैं गोपीनाथजी का दर्शन करने गया। दर्शन के बाद पूछने जाकर देखा कि वहाँ दुमंजले पर एक सज्जन हाथ में सोने का कंगन पहने बैठे हैं। ऊपर चढ़कर सामने पहुँचते ही उन्होंने खड़े होकर मुझे नमस्कार किया।

मैंने पूछा – यहाँ कोई बंगाली संन्यासी हैं क्या?"

सज्जन – हाँ, एक बंगाली संन्यासी यहाँ थे। मैं उनका पता बता सकता हूँ। आप उनके कौन हैं?

अखण्डानन्द – गुरुभाई।

"गुरुभाई बोलते ही उन्होंने मेरी खूब खातिर की और जहाँ मैंने अनुमान किया था, उसी लाल रंग के मकान में ले गये। वहाँ कुछ दिन रहने का अनुरोध करने पर मैं ठहर गया। मेरे पास कुरता नहीं था, उन्होंने बनवा दिया। उनका नाम था चतुरसिंह, वे खेतड़ी-नरेश के सम्बन्धी थे। उनके बड़े भाई (भूरसिंह) सम्भवत: अब उसी राज्य की कौंसिल के सदस्य हो गये हैं। वहाँ कुछ ठहरने के बाद उन्होंने पता बताते हुए कहा कि स्वामीजी खेतड़ी के राजा को शिष्य बनाने के बाद अजमेर गये हैं।... उसके बाद मैं अजमेर गया। वहाँ पहुँचकर सुनने में आया कि स्वामीजी अहमदाबाद चले गये हैं।"[५]

इस विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि अखण्डानन्द जी वहाँ करीब आठ महीने बाद – नवम्बर में पहुँचे, क्योंकि उसी समय स्वामीजी अजमेर, ब्यावर आदि गये थे।

जयपुर में अखण्डानन्द जी को स्वामीजी के बारे में जो सूचना मिली, उसका कुछ आभास लगभग ७-८ माह बाद, २८ जून १८९२ को लिखे उनके एक पत्र से भी मिलता है। इस पत्र में लिखते हैं, "श्रीस्वामी नरेन्द्रनाथ पिछले साल की गर्मियों में आबू में थे। वहाँ राजपुताना के कुछ राजा तथा अन्य राजकर्मचारियों ने उनसे बातचीत करने के बाद उनकी असाधारण विद्या-बुद्धि देखकर और उनसे सद्धर्मयुक्त उपदेश पाकर वे लोग अत्यन्त आनन्दित तथा विस्मित हुए। इसके बाद जयपुर राजधानी के (अन्तर्गत आनेवाले) एक राजा उन्हें आबू से अपने राज्य में ले गये। स्वामीजी वहाँ २-३ महीने थे। राजा के स्वभाव तथा आचरण से वे परम सन्तुष्ट हुए हैं। इस समय राजपुताना में उपरोक्त राजा के समान क्षत्रिय अत्यन्त विरल हैं। तदुपरान्त वे वहाँ से जूनागढ़ आये।"

(शेष अगले पृष्ठ पर)

१. गोपीनाथजी का मन्दिर गोविन्दजी के पीछे की गली में स्थित है। कहते हैं कि गोविन्द जी और गोपीनाथ जी क्रमश: चैतन्य महाप्रभु के दो शिष्यों रूप-गोस्वामी तथा गोपाल भट्ट के इष्ट-विग्रह थे।

२. 'खेतड़ी-नरेश और विवेकानन्द', १९२७, पृ. ११-१२ और 'आदर्श नरेश', १९४०, पृ. १००

३. समन्वय मासिक, कलकत्ता, जनवरी, १९२५, पृ. २९

५. प्रेमानन्द, ओंकारेश्वरानन्द, भाग १, पृ. १०८-९, १२२; Swami Akhandananda as we saw him, Kolkata, Ed. 2004, Ed. Swami Chetanananda, P. 42-43; Spiritual Talks p. 89

रायपुर में स्वामी विवेकानन्द की विशालतम ध्यानमूर्ति का अनावरण

विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्द के जीवन में रायपुर नगर का एक विशेष स्थान है। अपनी जन्मभूमि कोलकाता के अलावा उन्होंने अपने जीवन का सर्वाधिक काल कहीं एक स्थान में बिताया था, वह है छत्तीसगढ़ का रायपुर नगर। स्वामीजी ने अपनी किशोरावस्था के दो वर्ष (१८७७-७९) रायपुर में बूढ़ा तालाब के पास के मुहल्ले में व्यतीत किये थे। नरेन्द्रनाथ के रायपुर आने की ऐतिहासिक घटना की १२५वीं वर्षगाँठ के उपलक्ष्य में छत्तीसगढ़ की राजधानी रायपुर की नगरपालिका ने निर्णय लिया कि यहाँ स्वामीजी की एक विशालकाय ध्यानमूर्ति स्थापित हो।

बूढ़ापारा मुहल्ले में ही स्थित विवेकानन्द-सरोवर (बूढ़ा तालाब) के बीच बने द्वीप पर नीलाभ उद्यान में स्वामीजी की भव्य प्रतिमा ने क्रमशः आकार धारण किया। १६ अप्रैल, २००५ को सायं ६.३० बजे इसका अनावरण पूर्व प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी जी द्वारा सम्पन्न हुआ।

स्वामीजी की इस विशालतम ध्यान-मूर्ति का निर्माण भिलाई के विख्यात मूर्तिकार श्री जे. एम. नेल्सन ने किया। इस प्रतिमा की ऊँचाई ३१ फीट और वजन ६० टन है। इसके निर्माण में कुल चार महीने और दस लाख रुपये व्यय हुए। सीमेंट कांक्रीट द्वारा निर्मित यह विशाल मूर्ति २२ वर्गफीट के छह फीट ऊँचे चबूतरे पर स्थापित है।

माननीय वाजपेयी जी के बटन दबाते ही स्वामीजी की प्रतिमा के सामने लगा पर्दा धीरे-धीरे हटने लगा तथा अन्त में मूर्ति का पूर्ण भव्य रूप जनता के दर्शनार्थ सर्वदा के लिए उन्मुक्त हो गया। साथ ही सरोवर में प्रतिमा के समक्ष लगाये गये सुन्दर रंगीन फव्वारे प्रारम्भ हो गये तथा ३० मीटर ऊँचा हाई मास्ट लाइट भी जल उठा। प्रतिमा के चबूतरे के चारों ओर स्वामीजी की प्रेरक उक्तियाँ अंकित की गयी हैं।

इस समारोह में मुख्यमन्त्री डॉ. रमन सिंह, राज्यपाल श्री के. एम. सेठ, विधानसभा अध्यक्ष श्री प्रेम प्रकाश पाण्डेय, गृह मन्त्री श्री बृजमोहन अग्रवाल, पंचायत एवं ग्रामीण विकास मन्त्री श्री अजय चन्द्रकार, महापौर श्री सुनील सोनी, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द, स्वामी शुद्धात्मानन्द, ब्रह्मचारी प्रदीप, निगम अध्यक्ष श्री रतन डागा, मुख्य सचिव श्री ए. के. विजयवर्गीय और पुलिस महा-निदेशक श्री ओ. पी. राठौर तथा अन्य वरिष्ठ अधिकारी, जन-प्रतिनिधि तथा गणमान्य अन्य नागरिक भी उपस्थित थे।

पूर्व प्रधानमन्त्री श्री वाजपेयी इस विशाल प्रतिमा को देखकर अभिभूत हो गये और उन्होंने प्रतिमा के निर्माता श्री जे. एम. नेल्सन को प्रशस्ति-पत्र देकर सम्मानित किया। ❑❑❑

पिछले पृष्ठ का शेषांश

(बँगला मासिक, उद्बोधन, वर्ष ८८, पृ. ८)

इन तथ्यों से सिद्ध होता है कि स्वामी अखण्डानन्द जी उनसे जयपुर में नहीं मिल सके थे।

ठाकुर भूरसिंह जी शेखावत : जीवन परिचय

सरदार भूरसिंहजी शेखावत जयपुर ठिकाने के मलसीसर के अधिपति थे। बाल्यावस्था से ही उन्हें विद्या तथा विद्वानों से प्रेम था। ... अनेक वर्षों तक वे जयपुर स्टेट कौंसिल के मेम्बर रहे। मेम्बरी से अवकाश ग्रहण करने के बाद भी उन्होंने जयपुर के अपने मलसीसर भवन में ही निवास किया। ... इतिहास-साहित्य के ठाकुर साहब विशेष प्रेमी थे। 'विविध-संग्रह', 'महाराणा-यश-प्रकाश' और श्लोक-संग्रह आदि अपने पुस्तकों के कारण वे साहित्य-क्षेत्र में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे।... वे साधु-सन्तों के सत्संग का भी लाभ उठाते रहते थे। १९३२ ई. में ठाकुर साहब का देहान्त हुआ। (राजस्थान के साहित्य-सेवी, पण्डित झाबरमल्ल शर्मा अभिनन्दन ग्रन्थ, सम्पादक काशीराम शर्मा, प्रथम सं. १९७७, दिल्ली, पृ. १४१-४२ और 'राजस्थान में स्वामी विवेकानन्द, पृ. १५३-५४)। ठाकुर चतुरसिंह इन्हीं के कनिष्ठ भ्राता थे। (पृ. ८६, 'खेतड़ी-नरेश और विवेकानन्द')।

❖ (क्रमशः) ❖
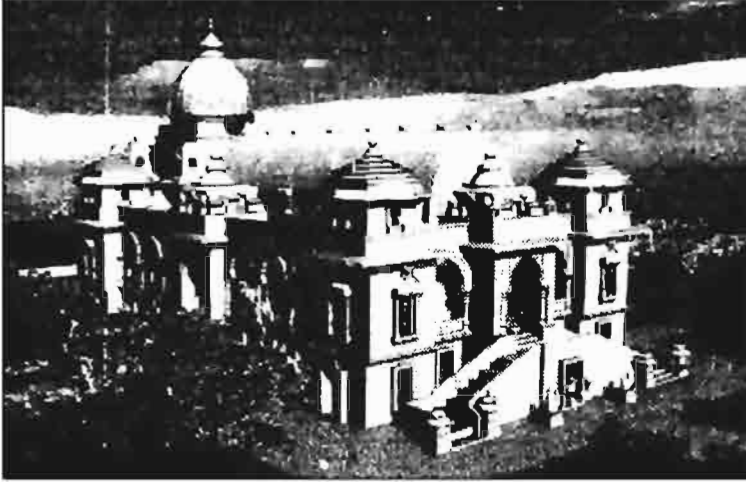
नम्र निवेदन

भगवान् श्रीरामकृष्ण का सार्वजनीन मन्दिर

प्रिय भक्तजन एवं सज्जनो !

स्वामी विवेकानन्द द्वारा संस्थापित रामकृष्ण संघ की एक शाखा, भारतवर्ष के मध्य-भाग में बसे हुए इस नागपुर में भी है। धन्तोली मुहल्ले में स्थित 'रामकृष्ण-मठ' नाम से विख्यात यह संस्था 'शिवज्ञान से जीवसेवा' के आदर्शानुसार विगत ७४ वर्षों से अपनी विभिन्न गतिविधियों के साथ जनता की सेवा में निरत है।

भगवान् श्रीरामकृष्ण का वर्तमान सार्वजनीन मन्दिर तथा उससे संलग्न प्रार्थना-गृह अब जीर्ण-शीर्ण हो चुका है और उसकी दीवारों में दरारें पड़ चुकी है। अब यथाशीघ्र उसके स्थान पर एक नया मन्दिर तथा प्रार्थना-गृह बनाने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त दिन-दिन भक्तों की संख्या में हो रही वृद्धि के फलस्वरूप भी कुछ समय से प्रार्थना-गृह में स्थान की कमी का बोध किया जा रहा है। अत: हमने पुराने देवालय-भवन के स्थान पर एक नये विशाल मन्दिर तथा प्रार्थना-गृह बनवाने का संकल्प किया है। इस भवन का निर्माण निम्नलिखित विवरण के अनुसार होगा –

मन्दिर की लम्बाई एवं चौड़ाई	**११७'×५८'**
मन्दिर की उँचाई	**६७'**
गर्भ-मन्दिर *(पूजागृह)*	**१८.५'×१८.५'**
उपासना कक्ष *(५०० भक्तों के बैठने के लिये)*	**६७'×४०'**
दोनों ओर के बरामदे	**६७'×५'**
मन्दिर-तलघर एवं सभाभवन	**९१.५'×५१'**

इसके अलावा फीजियोथेरपी यूनिट के ऊपर की मंजिल पर भी निर्माण-कार्य होगा।

इन समस्त निर्माण-कार्यों पर कुल मिलाकर लगभग तीन करोड़ रुपयों का खर्च आयेगा, जिसके लिए यह मठ जन-साधारण से प्राप्त होनेवाले दान पर ही निर्भर है। हमारा आपसे आन्तरिक अनुरोध है कि समग्र मानवता के आध्यात्मिक तथा सर्वांगीण उन्नयन हेतु प्रस्तावित इस योजना के लिए आप उदारतापूर्वक अंशदान करें।

आप सभी पर भगवान श्रीरामकृष्ण, माँ सारदादेवी तथा स्वामी विवेकानन्दजी का आशीर्वाद वर्षित हो – इस प्रार्थना तथा शुभकामनाओं सहित –

प्रभु की सेवा में,

स्वामी ब्रह्मस्थानन्द

(स्वामी ब्रह्मस्थानन्द)
अध्यक्ष
रामकृष्ण मठ, धंतोली, नागपुर

कृपया ध्यान दें –
दान की राशि डी.डी./चेक द्वारा **रामकृष्ण मठ, नागपुर** के नाम पर भेजें। दान की राशि आयकर की धारा ८०-जी के अन्तर्गत आयकर से मुक्त होगी। विदेशी मुद्रा में दिया गया दान भी स्वीकार किया जाएगा।

रामकृष्ण मठ, धन्तोली, नागपुर-४४० ०१२
फोन : २५२३४२२, २५३२६९० • फॅक्स : २५३७०४२